संपादन:
राजेश खिंदरी
माधव केलकर
रश्मि पालीवाल
सी. एन. सुब्रह्मण्यम
दीपक वर्मा

वितरण:
महेश बसेड़िया

सहयोग:
गजेन्द्र सिंह राठौर
रामभरोस यादव
अनिल पटेल
बृजेश सिंह

शैक्षिक
संदर्भ
शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-44, अक्टूबर 2002-जनवरी 2003

संपादन एवं वितरण:
एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद – 461 001
फोन: 07574 – 53518
ई-मेल: eklavyamp@vsnl. com
eklavyah@sify.com

एक प्रति: 15 रुपए
वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 75 रुपए
आजीवन सदस्यता: व्यक्तिगत 1000 रुपए
संस्थागत 2000 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ: जैविक विकास के इतिहास में भोजन प्राप्त करने के विभिन्न तरीके विकसित हुए हैं पौधों में, जिसमें सबसे ज़्यादा प्रचलित अपना भोजन खुद बनाने के अलावा भी बहुत से तौर-तरीके हैं। इनमें से एक तरीका है – कीटों का भक्षण करके ज़रूरी भोज्य पदार्थ प्राप्त करना। उसका एक अदभुत नमूना है राजा पिचर प्लांट जिसमें अगर मेंढक भी फंस गया तो उसे भी पचा जाएगा यह। इस विषय पर पढ़िए लेख पृष्ठ 29 पर।

पिछला आवरण: ऐसा पौधा जिसमें फूल के अलावा कुछ बारीक तंतु भर होते हैं, जिनका काम है अन्य पेड़-पौधों से भोजन चुराना। रेफ्लेसिया का फूल दुनिया का सबसे बड़ा फूल माना जाता है जिसमें से सड़े मांस जैसी गंध आती है।

*इस अंक में निम्न किताबों से चित्र लिए गए हैं: **बायोलॉजिकल साइंसेज़:** विलियम टी. कीटन, जेम्स एल. गूल्ड; प्रकाशक: डब्लू. डब्लू. नॉर्टन एंड कंपनी, न्यूयॉर्क। **द लाइफ ऑफ इंडियन प्लांट्स:** आई. फ्लेडरर; प्रकाशक: एटलांटिक पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली। **फंडामेंटल्स ऑफ इकोलॉजी:** इयूजीन पी. ओडुम; प्रकाशक: नटराज पब्लिशर्स, देहरादून। **मॉडर्न प्लांट बायोलॉजी:** हॉवर्ड जे. डिटमर; प्रकाशक: वेन नोस्ट्रांड रेनहोल्ड कंपनी, न्यूयॉर्क। **लाइफ, द साइंस ऑफ बायोलॉजी:** विलियम के. पुरव, गॉर्डन एच. ओरिंस; प्रकाशक: सिनाउर एसोसिएट, संदरलैंड। **ग्रोलिअर फैमिली एन्साइक्लोपीडिया:** प्रकाशक: ग्रोलिअर इनकॉर्पोरेटेड डेनबरी। **एक्सप्लोरिंग द यूनिवर्स:** डब्लू. एम. प्रोथेरो, इ. आर. केप्रीओटी, जी, एच. न्यूसम; प्रकाशक: चार्ल्स. इ. मेरिल पब्लिशिंग कंपनी। **शिक्षा का वाहन कला:** देवी प्रसाद; प्रकाशक: नेशनल बुक ट्रस्ट। **प्लांट एक्सटिंक्शन:** हेरॉल्ड क्रूपोविट्ज़ व हिलेरी काये; प्रकाशक: क्रिस्टोफर हेल्म, लंदन।*

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की एक परियोजना के तहत प्रकाशित
संदर्भ में छपे लेखों में व्यक्त मतों से मानव संसाधन विकास मंत्रालय का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संदर्भ सदस्यता की दरें इस प्रकार हैं:

सदस्यता शुल्क	एक साल	दो साल	तीन साल
व्यक्तिगत/स्कूल	75 रुपए	140 रुपए	200 रुपए
अन्य संस्थाएं	150 रुपए	280 रुपए	350 रुपए

संदर्भ की आजीवन सदस्यता भी उपलब्ध है:

आजीवन सदस्यता	शुल्क
व्यक्तिगत	1000 रुपए
संस्थागत	2000 रुपए

संदर्भ का सदस्यता शुल्क आप मनीऑर्डर या बैंक ड्राफ्ट से भेज सकते हैं।

संपर्क करें: **एकलव्य**
कोठी बाज़ार, होशंगाबाद
पिन: 461001
फोन: 07574–253518 **ई मेल: eklavyah@sify.com**

गैसों का कैसा आकार 7

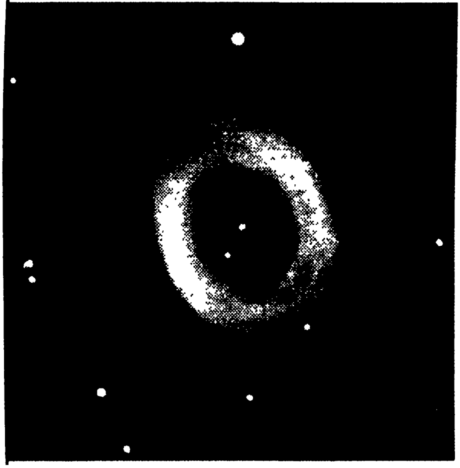

पाठ्य पुस्तकों में अक्सर लिखा होता है, जिसे शिक्षक मशीनी तरीके से पढ़ा देते हैं और बच्चे बिना सोच-विचार किए याद कर लेते हैं – 'गैस पदार्थ की एक अवस्था है। गैस का कोई निश्चित आकार और आयतन नहीं होता। उसे जिस बर्तन में रखो वही आकार ले लेती है।' पुस्तक में लिखी हर बात की तरह हम इन वाक्यों पर भी इस कदर यकीन कर लेते हैं कि इनके विविध आयामों के बारे में कुछ नहीं सोचते। लेकिन धरती से बाहर जाने पर क्या होगा जहां गुरुत्वाकर्षण बल नगण्य हो? वहां गैस और द्रव कुछ और ही आकार दिखाते हैं। पानी गिलास में पड़े रहने की बजाए गिलास से कूदकर गोलेनुमा आकार ले लेता है तो गैस भी गेंदनुमा आकार में रहना पसंद करती है। हमारे सौर मंडल के बृहस्पति, शनि, यूरेनस, नेपच्यून गैसों की बड़ी-बड़ी गेंदे ही तो हैं! और सूरज के बारे में आप क्या सोचते हैं, वो भी गैस का गोला ही है!! गैस और द्रव को एक थोड़े फर्क नज़रिए से देखिए इस लेख में।

आसान नहीं है भोजन चुराना 29

आमतौर पर पेड़-पौधों के बारे में यही सोचा जाता है कि अगर उनके पास क्लोरोफिल-युक्त पत्तियां, खनिज-पानी सोखने वाली जड़ें और भरपूर धूप मौजूद हो तो वे अपना भोजन खुद बना सकते हैं। फर्ज़ कीजिए किसी पौधे के पास हरी पत्तियां तो हैं लेकिन खनिज पदार्थ सोखने के काबिल जड़ें नहीं हैं, या इसका उल्टा भी हो सकता है कि जड़ तो है मगर आसपास पोषक तत्वों की कमी है, ऐसी स्थितियों में क्या होता होगा? अपनी-अपनी प्रजाति की निरंतरता को बनाए रखने के लिए पौधों में भी कई प्रकार के अनुकूलन हुए हैं। चंदन, चीड़ जैसे बड़े दरख्तों से लेकर अमरबेल, ड्रॉसेरा, पिचर प्लांट तक में कितने विभिन्न तरीके विकसित हुए हैं – परजीवी पेड़-पौधों की दुनिया के कुछ नज़ारे देखिए इस लेख में।

अंग्रेज़ों की भूमिकर 71

भारत के साथ व्यापार करने वाली यूरोपीय कंपनियां खासी परेशान थीं क्योंकि व्यापार भारत के पक्ष में झुका हुआ था जिसकी वजह से धन का प्रवाह भारत की ओर हो रहा था। 18वीं सदी में ईस्ट इंडिया कम्पनी पर लगातार यह दबाव था कि वह भारत से माल खरीदने के लिए खुद धन का इंतज़ाम करे। 1764 के बक्सर के युद्ध ने अंग्रेज़ों को बंगाल में भूमिकर वसूली के अधिकार दिलवा दिए। और अगले 30 साल बंगाल में अधिकतम भूमिकर वसूली के लिए नए-नए प्रयोग किए गए।

जैसे-जैसे अंग्रेज़ों का कब्ज़ा भारत के नए इलाकों में होता गया उन्होंने लगान वसूली के लिए अलग-अलग इलाकों में फर्क व्यवस्थाएं स्थापित की।

शायद यह सवाल बेमानी है कि किस व्यवस्था में किसान सबसे ज़्यादा सुखी थे क्योंकि उस औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था को किसान के सुखों से कोई खास सरोकार नहीं था। यहां पेश हैं अंग्रेज़ों की लगान व्यवस्था के विकास के कुछ महत्वपूर्ण पड़ावों का ब्यौरा।

शैक्षिक संदर्भ

अंक: 44

अक्टूबर 2002–जनवरी 2003

इस अंक में

आपने लिखा . . . 4

गैसों का कैसा आकार . . 7
शुरोजीत सेनगुप्ता

बच्चों के चित्र . . . 14
देवीप्रसाद

आसान नहीं है भोजन . . . 29
किशोर पवार

कुछ खेल, कुछ गणित . . . 40

हम घास क्यों नहीं खाते . . 44
सवालीराम

ज़रा सिर खुजलाइए . . . 53

चालक पॉलिमर्स . . . 54
बी. एस. पाटील, संगीता काले

परागकणों का अंकुरण . . . 60
कमल किशोर कुंभकार

हमारी आंखें . . . 65
जे. बी. एस. हाल्डेन

अंग्रेज़ों की भूमिकर व्यवस्थाएं . 71
गौतम पांडेय

पीटर . . . 89
इयान मेक इवान

आपने लिखा

संयोग वश मुझे संदर्भ पत्रिका का एक अंक पढ़ने का मौका मिला। पत्रिका देखकर ऐसा लगा कि हिन्दी में स्तरीय विज्ञान लेखन का कार्य रुका नहीं है। इस पत्रिका के माध्यम से जन सामान्य में विज्ञान के प्रति जो रुचि उत्पन्न की जा रही है वह निश्चित ही सराहनीय है। इस पत्रिका में अपने लिखे कुछ लेख प्रकाशित करवाना चाहता हूं जो लेसर, अतिचालकता जैसे विषयों से संबंधित हैं।

आशुतोष कुमार शुक्ल
152, फतेहपुर बिछुआ, टैगोर टाउन
इलाहाबाद

अंक 43 पढ़कर अच्छा लगा। संदर्भ के बारे में लिखना मुश्किल है। इसे पढ़कर कोई भी इसका पाठक बनने के लिए तत्पर हो जाएगा। इस अंक में 'नकल क्यों नहीं', 'विज्ञान से शांतिवाद', 'सदानंद की नन्हीं दुनिया' लेखों को पढ़कर ज्ञानवर्द्धन हुआ। वास्तव में बच्चों और बड़ों की कला में अंतर होता है। बच्चे अनुकरण नहीं, अध्ययन करते हैं। वयस्क उनकी कला से सदा अनभिज्ञ रहते हैं। सदानंद की नन्हीं दुनिया पढ़कर बच्चों की निराली दुनिया का मज़ा आया। महान वैज्ञानिक आइंस्टाइन का कथन सत्य है कि शिक्षा व्यवस्था को सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के अनुकूल बनाना होगा तभी समाजवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना हो सकती है।

रमेश शर्मा
सी-1/79, केशवपुरम, दिल्ली

अंक 43 में 'बांस के फूल का किस्सा' और 'पाठ्यक्रम निमार्ण के विविध आयाम' बहुत रुचिकर लगे। इसमें आपने पढ़ने की सामग्री कैसी हो, क्या पढ़ना चाहिए आदि समझाकर हमारी जानकारी को बढ़ाया है। सवालीराम से मेरा एक सवाल है कि – फूलों के रंग भिन्न-भिन्न क्यों होते हैं। कृपया सवाल का जवाब ज़रूर देना।

मीना लदोईया
कक्षा 10वीं, पोस्ट: डाबरी, भदरा
हनुमानगढ़, राजस्थान

मैं संदर्भ का नियमित पाठक हूं। अंक 37 में प्रो. यशपाल का लेख पढ़ा। लेख पढ़कर लगा मानो प्रो. यशपाल मेरे मन की बात ही कह रहे हैं। किन्तु एक बात मेरी समझ में नहीं आई कि रंगीन चूड़ी तोड़कर उसका पावडर बनाने पर पावडर का रंग सफेद क्यों हो जाता है? हालांकि मैं इंजीनियरिंग कॉलेज में प्रथम वर्ष का छात्र हूं फिर भी मैं यह समझ नहीं पाया। इस सवाल का जवाब देकर मेरा मार्गदर्शन करें।

राघव बावा
बी. टेक. द्वितीय सेमीस्टर, हांसी, हरियाणा

नए वर्ष के प्रथम माह में पुराने वर्ष का अंक एक अमूल्य तोहफे के रूप में मिला। इस अंक की गुणवत्ता एवं स्तरीय सामग्री को पढ़कर अब मेरा मन यह नहीं कहता कि आपसे इसके विलंब की शिकायत करूं।

इस अंक में देवी प्रसाद का लेख 'नकल क्यों नहीं' काफी विचारोत्तेजक लगा।

हालांकि यह लेख कला या चित्रकला के संदर्भ में है फिर भी यह बात प्रश्नों को हल करने में होने वाली नकल पर भी लागू होती है।

इस अंक में यह संयोग ही है कि शुरू के दोनों लेख कला को समर्पित थे। मुझे अफसोस है कि राजस्थान में कक्षा 1 से 10 तक चित्रकला विषय पाठ्यक्रम में है ही नहीं। कला-शिक्षा के नाम पर एक किताब लागू है परन्तु इस विषय का पास-फेल पर कोई प्रभाव न होने के कारण इसको व्यर्थ मानते हुए कोई भी पढ़ता नहीं है। चित्र बनाने में बच्चों से ज़्यादा अध्यापकों में ही झिझक पाई जाती है। जबकि बच्चों की चित्र बनाने में भरपूर रुचि होती है।

कैरन हेडॉक ने हमेशा की तरह इस निबंध में भी काफी गहराई से चिंतन, मनन और अवलोकन करके अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। मुझे खुशी है कि हमारे देश में ऐसे समाजसेवी, शिक्षक और शिक्षाविद् कार्यरत हैं।

बांस के फूलों का किस्सा काफी रोचक लगा। साबुन के बारे में सवालीराम का जवाब पसंद आया, पर साथ में आजकल बाज़ार में मिल रहे साबुन को काम में लेते समय कौन-कौन-सी सावधानियां रखनी चाहिए इस बाबत कुछ नहीं बताया। इसे भी पूरा करने की कृपा करें।

गणित की गतिविधियों पर एकलव्य संस्था द्वारा प्रकाशित किताब के बारे में जानकारी मिली। कृपया वैज्ञानिकों पर भी कोई अच्छी किताब प्रकाशित कीजिए।

पाठ्यक्रम निर्माण पर रश्मि पालीवाल का लेख विचारणीय था। राजस्थान में भी इस वर्ष से पुस्तकों को बदलने का कार्यक्रम शुरू हो गया है। कक्षा पहली और दूसरी की किताबें बदली जा चुकी हैं, इनमें काफी सुधार है। लेकिन एक और दुखद पहलू यह भी है कि प्राथमिक स्तर की किताबें लिखवाने के लिए या तो महाविद्यालयों के प्राध्यापकों को बुलाया जाता है या कवियों या लेखकों को। कई बार इन लोगों की न तो बाल-मनोविज्ञान में रुचि होती है, न शिक्षण सिद्धांतों का समुचित ज्ञान। इन आयामों पर भी पाठ्यक्रम निर्माण महत्वपूर्ण मुद्दा बन जाता है।

रमेश जांगिड़ (शिक्षक ;
आसन, हनुमानगढ़, राजस्थान

बहुत दिनों से किसी ऐसी पत्रिका की तलाश थी जो हिन्दी के माध्यम से विज्ञान संबंधी लेख प्रकाशित करती हो। सौभाग्य से संदर्भ का पुराना अंक मिला। पढ़कर प्रसन्नता हुई। बहुधा ऐसी उत्तम पत्रिकाएं धन के अभाव में अधिक समय तक नहीं चल पाती और उन्हें बंद करना पड़ता है। लेकिन मुझे विश्वास है कि संदर्भ के साथ ऐसा नहीं होगा।

पुरुषोत्तम चितले
चंद्रशेखर सोसायटी, अंधेरी, मुंबई

संदर्भ सजिल्द उपलब्ध हैं

संदर्भ
अंक 1-6
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 31-36
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 7-12
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 37-42
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 25-30
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 13-18
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

संदर्भ
अंक 19-24
मूल्य 100 रुपए
डाक खर्च
समेत

पिछले सात सालों में प्रकाशित समस्त सामग्री संदर्भ की सात सजिल्दों में समेटी गई है।

हरेक सजिल्द के साथ है एक विषयवार इंडेक्स जो किसी भी लेख को तुरंत आपके सामने लाए।

प्रत्येक का मूल्य डाक खर्च समेत 100 रुपए मात्र।

राशि डिमांड ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेजें।
ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं।
अधिक जानकारी के लिए जल्द संपर्क करें।

एकलव्य
कोठी बाजार
होशंगाबाद, म. प्र. 461001
फोन: 07574 - 253518

एकलव्य
ई-7/एच.आई.जी. 453, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल, म. प्र. 462016
फोन: 0755 - 2463380

शुरोजीत सेनगुप्ता

गैसों का कोई निश्चित आकार और आयतन नहीं होता। आप इस बात से किस हद तक सहमत हैं?

चलिए सीधे ही आपसे एक सवाल पूछ लेते हैं – सवाल रसायन शास्त्र या भौतिक शास्त्र के उस अध्याय से जुड़ा है जिसका शीर्षक 'पदार्थों की अवस्थाएं' होता है। इस अध्याय में अक्सर निम्न कथन पाए जाते हैं:

1. गैसों का कोई निश्चित आकार और आयतन नहीं होता।
2. द्रवों का आयतन तो निश्चित होता है, लेकिन आकार नहीं।
3. ठोस का आयतन और आकार दोनों ही निश्चित होते हैं।

मामला गैस के आयतन का

अब भई, इन वाक्यों को पढ़कर मुझे तो पसीना आ गया – क्या आपके साथ ऐसा नहीं हुआ? अब देखो ज़रा, खाना पकाने वाली गैस का आयतन और आकार निश्चित होता है ना – आयतन और आकार उस सिलिंडर के बराबर जिसमें कि वह भरी रहती है।

लेकिन आप कहेंगे कि यह भी भला कोई बात है – गैस जिस किसी भी बर्तन में रखी जाती है उसी का आकार और आयतन ग्रहण कर लेती है। ज़रा सिलिंडर का वाल्व खोल दीजिए – सारा कमरा गैस से भर जाएगा और अगर खिड़कियां खुली हों तो सारा पड़ोस गैस की रिसन से महक उठेगा। अगर गैस भोपाल के हादसे में निकली गैस की तरह घातक है तो कई लोग बीमार भी पड़ जाएंगे।

लेकिन मैं अभी भी आपके इस तर्क से असहमत हूं – बताता हूं क्यों?

चलिए, डॉक्टर के इंजेक्शन की तरह एक बड़ा-सा सिलिंडर बनाते हैं, जिसमें एक तरफ गैस जाने के लिए छेद हो और दूसरी ओर पिस्टन जो अंदर बाहर हो सकता है, यानी सिलिंडर का आयतन घटाया-बढ़ाया जा सकता है, परन्तु गैस बाहर की ओर रिस नहीं सकती। चलिए अपने इस सिलिंडर में छेद के ज़रिए गैस भरते हैं – आपको क्या लगता है कि क्या होगा?

जैसे ही गैस अंदर की ओर भरेगी, पिस्टन खिसकेगा ताकि गैस के अणुओं के लिए जगह बन सके। जैसे-जैसे अधिक अणु भीतर आएंगे आयतन भी बढ़ता जाएगा। लेकिन जब गैस का प्रवाह रुक जाए और छेद को भी बंद कर दिया जाए, तो अब आयतन भी और नहीं बढ़ता। यानी कि यह आयतन अब निश्चित है। यहां देखिए सिलिंडर के अंदर भरी गैस मुक्त है चाहे जितना फैलने के लिए – लेकिन ऐसा नहीं होता, गैस और नहीं फैलती – गैस का आयतन निश्चित रहता है। ऐसा क्यों?

गैस के अणु सिलिंडर की दीवारों से लगातार टकराते हैं और टिप्पा खाकर वापस फिका जाते हैं। टकराने पर हर अणु एक तरह से दीवार पर एक छोटा-सा धक्का लगाता है। एक अणु का धक्का तो नगण्य ही होगा, लेकिन सब मिलाकर इतने सारे अणु होते हैं कि कुल बल आगे-पीछे हो पाने वाली दीवार यानी पिस्टन को खिसका देता है। जैसे ही पिस्टन पीछे की ओर जाता है, अंदर की जगह थोड़ी और बढ़ जाती है। फलस्वरूप गैस के कणों की दीवार पर टक्कर की संख्या प्रति/सेकेण्ड थोड़ा कम हो जाती है, इस तरह लग रहा बल भी थोड़ा घट जाता है। वहीं दूसरी तरफ बाहर से भी हवा के अणु पिस्टन और इस इंजेक्शननुमा बर्तन की दीवारों पर बाहर से टक्कर मारते रहते हैं। यह विपरीत बल पिस्टन को अंदर की तरफ धकेलने की कोशिश करता है। इस स्थिति में पिस्टन उस स्थिति में रुकता है जहां अंदर और बाहर दोनों तरफ से लग रहे बल संतुलन में हों।

दीवार पर लग रहे बल को अगर दीवार के क्षेत्रफल से विभाजित कर दें तो हमें जो मिलता है उसे दबाव कहते हैं। गैस के दबाव को अगर हम उसके आयतन से गुणा कर दें तो जो संख्या मिलती है – वह गैस के कुल अणुओं और उनकी औसत गति जिससे वे दीवार से टकराते हैं, के समानुपाती होती है। और गति ताप से निर्धारित होती है, गैस जितनी अधिक गर्म, अणुओं की गति उतनी ही अधिक होगी। एक निर्धारित दबाव, तापमान

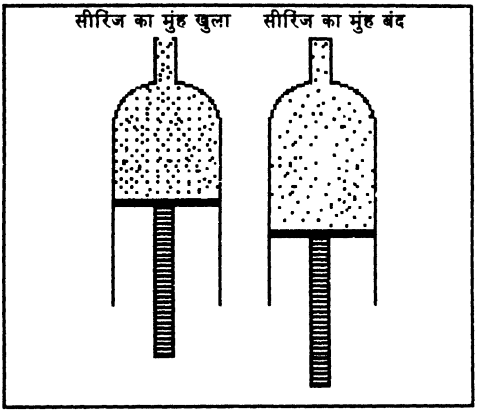

इंजेक्शन की बड़ी-सी सीरिंज जैसी रचना जिसके ऊपर की ओर छेद है जिसमें से हवा अंदर डाली जा सकती है और ज़रूरत पड़ने पर उसे बंद भी किया जा सकता है। नीचे की तरफ ऐसा पिस्टन है जिस पर थोड़ा-सा धक्का लगने पर भी वह सरक जाएगा, परन्तु फिर भी पिस्टन के किनारों से गैस नहीं रिस सकती। सवाल यह है कि अगर इस सिलिंडर में एक निश्चित मात्रा में गैस डालें तो पिस्टन बाहर की ओर सरकता ही जाएगा या कहीं जाकर रुक जाएगा। और ऐसी स्थिति में गैस के आयतन के बारे में क्या कहा जा सकता है – वह निश्चित होता है या नहीं?

और अणुओं की संख्या के मद्देनज़र किसी गैस का आयतन भी निश्चित होता है। भौतिक और रसायन के इस मूलभूत नियम को 400 साल पहले खोजा था इंग्लैंड के रॉबर्ट बॉयल ने, जो आइज़ेक न्यूटन का समकालीन था।

लेकिन उस गैस के आकार वाले सवाल का क्या हुआ?

मामला गैस के आकार का

उम्मीद है कि यह कथन कि गैसें और द्रव का आकार उस बर्तन के आकार पर निर्भर है जिसमें वो रखे जाते हैं – सही होना चाहिए; क्योंकि हममें से शायद किसी ने भी गैस के घन को या फिर द्रव के गोले को अपने आप ही हवा में खड़े होते नहीं देखा। गैसों और द्रवों का कोई निर्धारित आकार नहीं होता, वे वही आकार ग्रहण कर लेते हैं जिसमें कि उन्हें रखा जाता है। लेकिन ज़रा दिल थाम लीजिए – मैंने हकीकत में द्रव के एक गोले को अपने आप ही स्वतंत्र खड़ा रहते देखा है – बिना बर्तन की किसी दीवार का सहारा लिए, डिस्कवरी चैनल पर! चलिए इसकी पड़ताल करते हैं।

गैस का गोला: बृहस्पति. शनि, यूरेनस और नेपच्यून हमारे सौर मंडल के बड़े-बड़े ग्रह हैं लेकिन बनावट के हिसाब से ये गैस के विशालकाय गोले भर हैं। वैसे तो सूरज भी एक विशाल गैसीय पिंड है। इस फोटोग्राफ में बृहस्पति ग्रह दिख रहा है।

गुरुत्वाकर्षण, धरती पर मौजूद हर आकार पर अपना प्रभाव डालता है। इसलिए गैस, द्रव और ठोस के प्राकृतिक रूप के बारे में जानने के लिए हमें ऐसी जगह जाना पड़ेगा जहां गुरुत्वाकर्षण बिल्कुल ही नहीं हो, जैसे कि धरती की कक्षा में घूम रहा कोई अंतरिक्ष यान। जब गुरुत्व शून्य या नगण्य हो जाता है तो गिलास में भरा पानी कूद कर बाहर आ जाता है और पारदर्शी गोलेनुमा आकार ग्रहण कर लेता है, यानी द्रव किसी भी बर्तन का आकार ग्रहण करने से मानों इंकार कर देता है। हांलाकि आप पाएंगे कि आप इस गेंद के आकार को अदल-बदल सकते हैं, इस गेंद को हौले-से झटका दीजिए और यह कई छोटी-छोटी गेंदों में बदल जाती है। वहीं इसे

अगर छेड़ा नहीं जाए तो यह अपने आप में एक पूर्ण गोला होता है। दरअसल गोला किसी भी द्रव के लिए सबसे प्राकृतिक आकार है क्योंकि किसी दिए गए आयतन के लिए गोले का पृष्ठ क्षेत्रफल सबसे कम होता है और इस आकार में परमाणु भी एक-दूसरे से सबसे करीब रहते हैं।

गुरु, शनि, नेपच्यून – गैस के पिंड

इसी तरह अगर गैसों को भी विचलित न किया जाए तो वे भी गोलीय आकार ग्रहण करना चाहेंगी लेकिन इसके लिए गैस की काफी अधिक मात्रा की ज़रूरत पड़ेगी। गैसों की काफी बड़ी मात्रा जो गुरुत्वाकर्षण के सहारे आपस में थमी हो दरअसल गोलीय आकार की ही होगी। और मैं काफी बड़ी मात्रा की ही बात कर रहा हूं। कितनी बड़ी? गुरु, शनि, नेपच्यून के आकर जितनी बड़ी। हमारे सौर मंडल के ये ग्रह दरअसल गैस की बड़ी-बड़ी गेंदें हैं, और तो और अपना सूर्य भी एक ऐसा ही गैस का गोला है। यदि गैस की मात्रा काफी बड़ी है तो गुरुत्व की वजह से यह भीतर की ओर इकट्ठा होना शुरू हो जाती है यानी 'कोलेप्स' की वजह से घनी होने लगती है। जब यह गेंद काफी घनी हो जाती है तो इसका तापमान काफी बढ़ जाता है। एक निश्चित सीमा के बाद तापमान इतना अधिक हो जाता है कि हाइड्रोजन हीलियम में परिवर्तित होने लगती है; और इस प्रक्रिया में काफी अधिक ऊष्मा और रोशनी उत्सर्जित होती है। जब सूर्य के आकार का तारा – जो कि यूं तो काफी छोटा है ब्रह्मांड के अन्य तारों के संदर्भ में, बूढ़ा होता है तो इसका बाहरी हिस्सा फैलता है और ठंडा हो जाता है। वहीं अंदर का ठोस हिस्सा यानी केन्द्र और सिकुड़कर जिस संरचना में बदलता है उसे व्हाइट ड्वार्फ यानी सफेद बौना तारा कहते हैं। इसका बाहरी खोल एक धुंधली-सी रोशनी से चमकता रहता है जिसे प्लेनेटरी नेब्युला कहते हैं, जैसे कि लाइरा तारामंडल में चमकता हुआ रिंग नेब्युला।

गैसे, द्रव और ठोस के मुकाबले ज़्यादा लचीली होती हैं और गैस की किसी बड़ी मात्रा का आकार उन बलों पर निर्भर करता है जो उन पर लग रहे होते हैं। पुच्छल तारे के उदाहरण को देखिए – जब वे सूर्य से दूर होते हैं तो सिर्फ गैस और बर्फ के मिलेजुले गोले-से होते हैं। जब वे सौरमंडल के भीतरी हिस्से में दाखिल होते हैं तो सूर्य से निकल रहे आवेशित कणों की धारा गैस के कणों को पीछे धकेल देती है और इनकी पूंछ-सी बन जाती है। आपने शायद कभी पुच्छल तारे को निहारा हो या फिर चित्र में देखा हो; अभी पिछले कुछ दशकों में भारत में भी कुछ पुच्छल तारे दिखाई दिए।

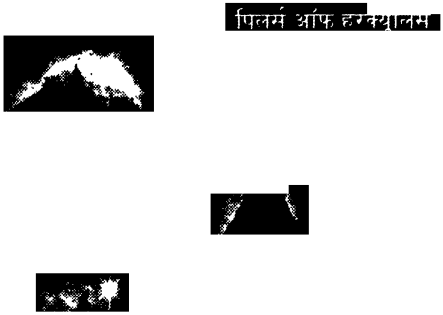

रिंग या प्लेनेटरी नेब्युला: लायरा तारामंडल में दिखाई देने वाली प्लेनेटरी नेब्युला। इस तरह की अनेक नेब्युला इस ब्रह्मांड में मौजूद हैं। जब पहली बार इस तरह की नेब्युला को टेलीस्कोप से देखा गया तो वो यूरेनस-नेपच्यून के समान दिखाई दे रही थी इसलिए इसे प्लेनेटरी नेब्युला कहा गया। इस किस्म की नेब्युला में एक मंद चमक वाले लेकिन बेहद गर्म तारे के चारों ओर गैसीय पदार्थ का घेरा होता है। तारे से निकलने वाले पराबैंगनी विकिरण की वजह से बाहर का गैसीय पदार्थ चमकता है।

पिलर्स ऑफ हरक्युलिस नाम का नेब्युला जिसमें गैस ने अत्यन्त विचित्र आकार अख्तियार किया हुआ है। वैज्ञानिकों का ऐसा मानना है कि ब्रह्मांड के हमारी आकाशगंगा में पाए जाने वाले इस इलाके में तारों का निर्माण जारी है।

एक तो अप्रैल, 2002 में सवेरे-सवेरे दिखाई देता था। इसका नाम था इकेया-झांग।

कभी-कभी तो गैस कुछ विचित्र से आकार ले लेती है। इस चित्र को देखिए यह एक अन्य नेब्युला का है जिसे एम-16 या 'पिलर्स ऑफ हरक्युलिस' भी कहते हैं। इसमें गैस के दो स्तंभ एक दूसरे के भीतर बहते या समाए हुए से लगते हैं। एक स्तंभ घना और काला है, वहीं दूसरा हल्का और चमकीला है। जब वैज्ञानिकों ने इस नेब्युला को समझना शुरू किया तो हमें गैसों की संरचना और गुणों के साथ-साथ उन पर लग रहे बलों के बारे में काफी कुछ जानने को मिला।

तो ठीक क्या है?

तो चलिए कहानी की इति करते हैं – उस वाक्य के साथ जो हमें लगता है कि पाठ्यपुस्तकों में दिया जाना चाहिए। गैस, द्रव और ठोस तीनों का निश्चित आकार और आयतन होता है और यह उन पर लग रहे बलों पर निर्भर करता है। गैसों का आकार और आयतन परिवर्तित करना तुलनात्मक रूप से ज़्यादा आसान होता है क्योंकि इनके अणु एक दूसरे के काफी दूर होते हैं।

द्रव के अणु एक दूसरे के काफी पास होते हैं इसलिए उनका आयतन परिवर्तन काफी मुश्किल है। लेकिन उनका आकार परिवर्तित कर पाना अपेक्षाकृत आसान है – क्योंकि द्रव के अणु यहां-वहां जा सकते हैं, लेकिन गैस जितना आसानी से नहीं। द्रव और गैस के किसी बर्तन के आकार में ढलने के लिए गुरुत्वाकर्षण ज़िम्मेदार है।

वहीं ठोस में अणु एक दूसरे के काफी करीब होते हैं – और यहां-वहां नहीं घूम सकते। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि ये स्थिर होते हैं बल्कि ये इधर-उधर इस तरह से होते हैं कि अपने पड़ोसी अणुओं से जुड़े रहते हैं। इस वजह से ठोस का आकार और आयतन बदलना इतना आसान नहीं होता – हालांकि यह असंभव भी नहीं होता। आखिर स्टील की चादर को ही मोड़-तोड़कर कार के ढांचे को बनाया जाता है – हां, इसमें बल ज़रूर अधिक लगता है।

किसी भी पदार्थ का आयतन बदलने के लिए जितने बल की ज़रूरत होती है उसे **बल्क मोड्युलस** यानी आयतन प्रत्यास्थता गुणांक कहते हैं; जबकि **शीयर मोड्युलस** या विरूपण प्रत्यास्थता गुणांक बल की उस मात्रा को दर्शाता है जो पदार्थ का आकार या रूप (शेप) बदलने के लिए ज़रूरी है। इसलिए सही कथन इस प्रकार होंगे:

1. गैसों का बल्क मोड्युलस कम होता है और शीयर मोड्युलस एकदम शून्य।
2. द्रव में बल्क मोड्युलस काफी ज़्यादा होता है और इनमें भी शीयर मोड्युलस शून्य होता है।
3. ठोस पदार्थों में बल्क मोड्युलस और शीयर मोड्युलस दोनों बहुत ही अधिक होते हैं।

हिन्दी अनुवाद: दीपक वर्मा: संदर्भ पत्रिका से संबद्ध।

यह लेख जंतर-मंतर पत्रिका के जुलाई-अगस्त, 2002 अंक से साभार।

बच्चों के बनाए चित्रों को लेकर आमतौर पर काफी सारी गलतफहमियां हम बड़े पाल लेते हैं। जहां एक ओर बच्चों द्वारा बनाए चित्रों को हम काफी हल्के तौर पर लेते हैं वहीं दूसरी ओर बाल चित्रकला को लेकर हमारी काफी सारी जिज्ञासाएं भी होती हैं। लेकिन हमारी इन शंकाओं का समाधान कैसे हो? पालकों व शिक्षकों की ऐसी ही कई जिज्ञासाओं के जवाब दिए हैं प्रसिद्ध कलाधर्मी देवीप्रसाद जी ने।

बच्चों के चित्र
कुछ सवाल . . . . कुछ जवाब

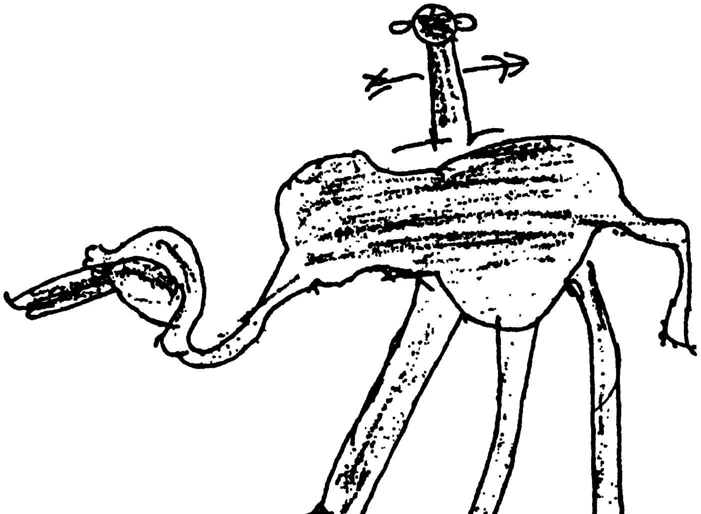

अनिल, पोतिया, उड़ान पत्रिका से साभार

धीरे-धीरे सधते हाथ। इंसानी आकार के साथ हाथ-पांव की अंगुलियां भी नज़र आ रही हैं।

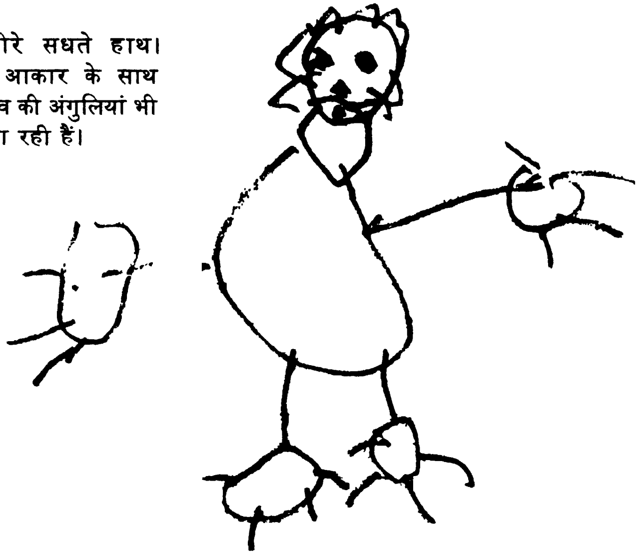

मोमेश 1 वर्ष

चित्र बच्चों के

सवाल: बच्चों को आमतौर पर गहराई का बोध नहीं होता। दूर, नज़दीक का भान भी उनके चित्रों में अक्सर नहीं होता है। क्या उनको इसका ज्ञान करा देना ठीक होगा? क्या बच्चे यह सीखना चाहते हैं?

जवाब: गहराई का बोध, जिसे 'पर्सपेक्टिव' कहते हैं, बच्चों के चित्र में न रहना ही स्वाभाविक है। किन्तु दूर और नज़दीक का भान बच्चों को अपने ढंग से होता ही है। उनका पर्सपेक्टिव चाक्षुष नहीं, मानसिक होता है। ठीक उम्र आने पर बच्चों को स्वयं चाक्षुष पर्सपेक्टिव की आवश्यकता महसूस होती है। वह उम्र दस ग्यारह साल के बाद ही आती है। उस समय मामूली सुझाव के तौर पर वह ज्ञान दिया जा सकता है। इसे ज़बरदस्ती सिखाने की ज़रूरत नहीं। बाद में चलकर सिखाने से वह चीज़ स्वाभाविक बनकर आएगी।

सवाल: बच्चों के चित्रों में कोई-कोई अंग क्यों असलियत से ज़्यादा बड़े होते हैं। जैसे, बच्चों के ज़्यादातर चित्रों में सिर करीब-करीब शरीर जितना ही बड़ा रहता है, यह क्यों होता है?

जवाब: बच्चे बाह्य असलियत का चित्र नहीं बनाते। वे तो उनके मन के अंदर जो असलियत है, उसका चित्र बनाते हैं। बच्चे, जो दिखता है उसका चित्र नहीं बनाते, बल्कि जो जानते हैं उसका चित्र बनाते हैं। जिस अंग ने अधिक ध्यान खींचा हो, वह बड़ा बन जाता है। प्राचीन चित्रों में भी यह बात मिलती है। अजंता में देखिए। चित्र के जिस पात्र या अंग का अधिक महत्व होता है, उसे बड़ा बनाया गया है। कहीं-कहीं तो साधारण व्यक्तियों के चित्रों से बुद्ध भगवान के चित्र को दस गुना अधिक बड़ा भी बना दिया है। वह बाह्य असलियत नहीं, अंदरूनी असलियत है।

सवाल: बच्चों को थोड़ा पर्सपेक्टिव ड्राइंग के तरीके बताना क्या अच्छा नहीं होगा? उससे क्या वे ज़्यादा अच्छे चित्र नहीं बना सकेंगे?

जवाब: जिसे आप ज़्यादा अच्छा कहते हैं, वह आपका ज़्यादा अच्छा है, बच्चे का नहीं। बच्चे की दृष्टि से तो वही ज़्यादा अच्छा है, जिसमें पर्सपेक्टिव ड्राइंग के तरीके का अभाव हो। यही बच्चों के चित्रों का चरित्र है।

सवाल: क्या पर्सपेक्टिव की आवश्यकता हर-एक बच्चे को महसूस होती है?

जवाब: नहीं, सच बात तो यह है कि अगर कला-बोध का मापदंड ऊंचा होगा, तो बिना पर्सपेक्टिव के भी ऊंची रुचि के और ऊंचे स्तर के चित्र बनेंगे। संसार की अधिकतर प्राचीन कला-शैलियों में इस तरह के पर्सपेक्टिव का अक्सर अभाव देखा जाता है।

अगर कला-शिक्षा का तरीका ठीक हुआ और सयानों के कला-स्टैंडर्ड भी ऊंची कला की बुनियाद पर हुए, तो बच्चे भी यह ज़रूरी नहीं कि किशोर-अवस्था आने पर पर्सपेक्टिव या वास्तविकता की तरफ झुकें।

सवाल: वास्तविक चित्र बनाने के लिए बच्चों को प्रोत्साहित करने में क्या दोष है?

जवाब: जब बच्चे को अपने जगत में रहने का पूरा अधिकार नहीं होगा, तो आप ही समझिए कि उससे क्या नुकसान होगा। वास्तविक चित्र बनाने का मतलब यह हुआ कि बच्चे को उसके स्वभाव से

पहले ही, उसके स्वभाव के खिलाफ सयाने का स्वभाव देने का प्रयत्न किया जा रहा है। बच्चे को सयाना बनाने से जो नुकसान है, वही नुकसान बच्चों को सयानों जैसा चित्र बनाना सिखाने से है। वास्तविक चित्र बनाना सयानों का स्वभाव है, बच्चों का नहीं।

सवाल: जब बच्चों के लिए चित्र वास्तविक नहीं बनते हैं, तो भी क्या बच्चे उनसे संतुष्ट होते हैं?
जवाब: बच्चे के अपने चित्र कभी भी वास्तविक नहीं होते और वह हमेशा अपने उन अवास्तविक चित्रों से ही संतुष्ट होता है।

♣ ♣ ♣

कुछ मां-बाप के लिए

सवाल: बच्चों के मां-बाप अक्सर यही चाहते हैं, कि उनका बच्चा सयानों की तरह 'अच्छे' चित्र बनाए। इस विचार से बच्चों के चित्र को सुधारने का प्रयत्न भी वे करते हैं। उनसे बच्चों को कैसे बचाएंगे?
जवाब: यह काम प्रौढ शिक्षा का है। मां -बाप को यह सिखाना होगा कि बच्चों का स्वाभाविक कला-धर्म क्या है। और उनका विकास ठीक ढंग से, उनकी स्वाभाविक कला सीढ़ी के द्वारा ही हो सकता है।

सवाल: आप मानते हैं कि बच्चे अपनी कल्पना-शक्ति और अनुभव से चित्र बनाएं, तो ज़्यादा अच्छा है। आप बड़ों के चित्रों के प्रभाव से उनको कैसे दूर रखेंगे?
जवाब: अपने ही अनुभव से चित्र बनाएं तो ज़्यादा अच्छा है, ऐसी बात नहीं। केवल अपने ही अनुभव से चित्र बनाएं, ऐसा होना चाहिए। बड़ों के प्रभाव से दूर रखना आसान नहीं है। पहले तो बड़ों को यह समझना होगा कि बच्चे जो चित्र बनाते हैं, उनसे वैसे ही चित्र की अपेक्षा होनी चाहिए। अगर बड़ों ने बच्चों के चित्र समझने का प्रयत्न किया, तो आधा काम तो हो ही गया। अपनी ही कल्पना-शक्ति के चित्र बनाने की उन्हें पूरी छूट देनी चाहिए, बड़ों के बनाए हुए चित्र दिखाने का आग्रह नहीं करना चाहिए। बड़ों के मापदंड से उनके चित्रों को मापना नहीं चाहिए।

सवाल: आमतौर पर लोगों को बच्चों के चित्रों के प्रति निरादर की भावना होती है। उसका क्या कारण है?
जवाब: हमारे देश में बच्चों के चित्रों की बात तो छोड़ ही दीजिए, बच्चों के प्रति कितनी आदर की भावना है, यही ज़रा बताइए।
सवाल: शिक्षा का काम ही बच्चों को ठीक रास्ते पर लाना है। आप उनकी गलतियों को सुधारेंगे ही नहीं, तो वह कैसे होगा?
जवाब: शिक्षा का काम बच्चों को 'ठीक रास्ते पर लाना है', आप जब ऐसा कहते हैं तो लगता है कि आपने मान लिया कि बच्चे गलत रास्ते पर हैं, जिसके बदले उन्हें ठीक रास्ते पर लाना है। गलती इस दृष्टि में ही है। बच्चे के जो रास्ते हैं, वही ठीक हैं। आज तो शिक्षा का काम यह होना चाहिए कि हम ऐसा किस तरह करें कि बच्चा अपने रास्ते पर ही रहे। बच्चे का रास्ता अभय का, निः संकोच का और सत्य का होता है। उसके चित्रों में ये तीनों चीज़ें रहती हैं। किन्तु हम उन्हें गलतियां कहते हैं; वे गलतियां नहीं, उसके अलंकार हैं।

सवाल: अगर बच्चे की सारी ज़िंदगी पर असर डालना है या कहिए, गलत असर से उसे बचाना है, तो क्या मां-बाप और शिक्षक की शिक्षा बच्चों की शिक्षा से भी ज़्यादा ज़रूरी नहीं है?

जवाब: इसमें कोई शक नहीं। किन्तु ऐसा नहीं कर सकते कि योजना ऐसी बनाएं कि पहले मां-बाप और शिक्षकों को पढ़ा लें और जब वे पूरे-पूरे तैयार हो जाएं, तब बच्चों के प्रश्न को हाथ में लें। दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। बड़ों की शिक्षा का माध्यम बच्चों की शिक्षा होना चाहिए।

सवाल: बच्चों के मां-बाप उनकी कला-प्रवृत्तियों में क्या मदद कर सकते हैं?

जवाब: उनका आदर करें और इस प्रवृत्ति के लिए प्रोत्साहन दें।

सवाल: मेरी तीन साल की लड़की कागज़ पर रंग छिड़क देती है। कोई चित्र नहीं बनाती। तो क्या यह ठीक है? क्या उसको किसी जानवर या वस्तु इत्यादि के आकार का बोध नहीं करा देना चाहिए।

जवाब: जिसे आप रंग छिड़कना कहते हैं, वही बच्चे का चित्र है। वही 'जानवर' है और वही उसकी 'वस्तु' है। अगर आपने उसका स्वाभाविक विकास होने दिया, तो वही रंग छिड़कने की प्रक्रिया विकसित होकर ऐसी हो जाएगी कि वस्तु भी बन जाएगी और जानवर भी।

♣ ♣ ♣

कुछ विशेष सवाल

सवाल: बच्चों के चित्रों का अभिप्राय बहुत दफे मुझे समझ में नहीं आता है, तो क्या वह बच्चों से पूछ लेना ठीक है?

जवाब: हां, जो चित्र बच्चे ने बनाया, अक्सर वह उसका मौखिक वर्णन करना भी पसंद करता है। मैंने अक्सर पाया है कि अपने चित्र पर या उससे संबद्ध किसी विषय पर साथ-साथ लेख लिखना कुछ बच्चों को खूब अच्छा लगता है, इसलिए चित्र का अभिप्राय पूछ लेने में कोई नुकसान नहीं है। किंतु उसके ऊपर आग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो प्रकट करना था वह तो उसने अपने चित्र से ही कर दिया, अगर कुछ बचा होगा तो उसे कह सकेगा। शिक्षक को बच्चे कि भाषा, उसका मन समझना चाहिए। जितना शिक्षक का अनुभव बढेगा, उतना ही वह बिना पूछे बच्चों के चित्रों का अभिप्राय स्वयं समझने में समर्थ होता रहेगा। मनोवैज्ञानिक तो बच्चों के चित्रों से केवल चित्रों का अभिप्राय ही नहीं, उनके मन की गहराई की बातें भी समझने का प्रयास करते हैं।

सवाल: बच्चों ने रंगों का गलत उपयोग किया, तो उन्हें सुधारना चाहिए?

जवाब: गलत माने क्या? क्या कपड़ों पर लगा लिया, ज़मीन पर बिखेर दिया या एक-दूसरे के मुंह पर या कपड़ों पर लगा दिया? अगर ऐसा हो, तो ज़रूर बच्चों को इसके बारे में प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। किन्तु अगर चित्र के अंदर उसने अपने ढंग से रंगों का उपयोग किया, तो उसे आप गलत कैसे कह सकते हैं?

सवाल: एक बच्चा चित्र बनाता है, उसका कोई अर्थ नहीं दिखता।

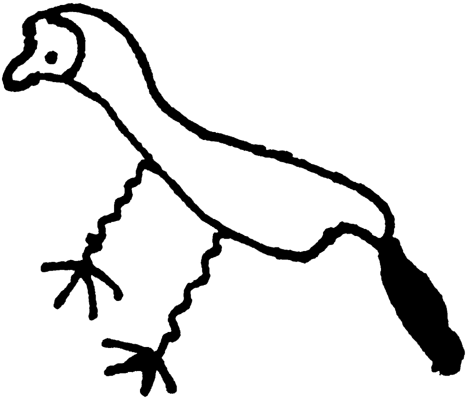

अनिल, पोतिया

तो क्या उससे पूछना नहीं चाहिए कि क्यों भाई, क्या सोच के चित्र बनाया?

जवाब: पूछने में कोई हर्ज़ नहीं। अच्छा ही है। इससे उसका चिंतन विकसित हो सकता है। किन्तु ज़ोर नहीं देना चाहिए।

सवाल: अगर बच्चे गलत रंग का इस्तेमाल करते हैं, जैसे पेड़ को बैंगनी या लाल बनाया, तो क्या उसे ठीक करने के लिए नहीं कहना चाहिए?

जवाब: प्रकृति का पेड़ अलग होता है और कलाकार के मन का पेड़ अलग। और फिर बच्चों का तो बिल्कुल ही अलग। इसमें आनंद की ही बात होनी चाहिए। यह उनकी कवि-कल्पना होती है। उसे कौन सुधार सकता है?

सवाल: अगर किसी बच्चे को चित्र बनाने का कोई विषय नहीं सूझता हो तो क्या करना चाहिए?

जवाब: उसे विषय सुझाकर, कहानी बताकर, कुछ प्रत्यक्ष अनुभव देकर प्रोत्साहन देना चाहिए।

सवाल: महान कलाकारों की कृतियों से सीखने और उनके अनुभवों से लाभ उठाने का मौका आप बच्चों को नहीं देते हैं। क्यों?

जवाब: आमतौर पर सयानों का प्रभाव बच्चों की कला पर पड़े, तो उनकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। महान कलाकारों की कृतियों से सीखने के लिए और उनके अनुभव से लाभ उठाने के लिए बहुत समय है। चार-पांच साल के बाद जब सयानों के जगत में बच्चा प्रवेश करता है, तब अगर उसे यह अनुभव मिलें, तभी वह स्वाभाविक माना जाएगा। हां, कला-बोध की दृष्टि से ये कृतियां देखने को मिलती रहें, तो कोई नुकसान नहीं।

सवाल: कुछ बच्चे ऐसे होते हैं, जो आलंकारिक भांत (पैटर्न) बनाना अधिक पसंद करते हैं। क्या उन्हें ऐसा करने के लिए पूरी छूट होनी चाहिए?

जवाब: पैटर्न ही केवल बनाते रहें, यह ठीक नहीं है। उन्हें चित्र बनाने के लिए भी उत्साहित करना चाहिए। ऐसे कुछ अपवाद हो सकते हैं, जबकि बालक हमेशा नए-नए पैटर्न बनाने वाला हो। ऐसी हालत में उसी प्रवृत्ति का विकास करना अच्छा होगा।

सवाल: किस उम्र तक बच्चों को अपने ही मन से चित्र बनाने देना चाहिये?

कला के मायने सिर्फ चित्रकला तक सीमित नहीं हैं। कागज़, पत्तियों, कपड़े की चिंदियों की मदद से भी आकार बनाए जा सकते हैं।

जवाब: इसका कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। कुछ बच्चे तो छोटी उम्र में ही सुझाव की आवश्यकता महसूस कर सकते हैं और कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं, जो बड़े होकर भी अपनी मर्ज़ी से चित्रकला करते-करते आगे बढ़ सकते हैं।

♣ ♣ ♣

छुक-छुक गाड़ी

सवाल: मेरा चार साल का लड़का हमेशा आ कर कहता है कि इंजन का चित्र बना दो। वह छोड़ता ही नहीं, जब तक मैं उसे छुक-छुक गाड़ी का चित्र नहीं बना देती हूं, तो क्या ऐसा चित्र बना देना ठीक होगा? उसके अपने चित्रों पर इसका क्या असर होगा?

जवाब: कभी-कभी बना देने में कोई नुकसान नहीं, किंतु उसे छुक-छुक गाड़ी का चित्र खुद बनाने के लिए उत्साहित करना चाहिए। हो सके, तो पहले वह बनाए।

सवाल: मेरे दोनों बच्चे जब कभी छुक-छुक गाड़ी देखने का मौका मिलता है, तो बड़े गौर से उसके इंजन के सब हिस्सों को देखते हैं और घर आकर चित्र बनाते हैं। एक-दूसरे के चित्रों में कमियां बताते हैं, उन्हें सुधारते हैं। लेकिन ये सब वस्तुओं को इतने ध्यान से देखते हों, ऐसी बात नहीं है। क्यों, इसका क्या कारण है?

जवाब: उन्हें जो चीज़ आकर्षित करती है, उस चीज़ को वे देखते हैं और उसी को बनाते हैं। दोनों में जो देखने में फर्क हुआ होगा, उसी को लेकर एक-दूसरे की समालोचना करते हैं। जो चीज़ चित्र में बच्चे नहीं बनाते हैं और अगर उस पर आपका ध्यान गया हो, तो आप सोचते हैं कि बच्चों की गलती हुई। यह आपकी गलती है।

♣ ♣ ♣

बच्चों को साधन-सामग्री कैसी दें?

सवाल: छोटे बच्चों को एक साथ ज़्यादा रंग देना ठीक है क्या, बच्चों को किस तरह की कूचियां देनी चाहिए?

जवाब: अक्सर देखा गया है कि अधिक रंग देने पर भी बच्चे दो-

तीन ही इस्तेमाल करते हैं, इसलिए सबसे अच्छा यह होगा कि उन्हें पांच-छह रंग ही दिए जाएं। साधारण ब्रश बच्चों के लिए काफी होते हैं। बहुत बारीक का कोई उपयोग नहीं होता बल्कि उनसे बच्चों का हाथ खुलता नहीं। इसलिए मध्यम और मोटे ब्रश देने चाहिए। बड़े कागज़ पर चित्र बना रहे हों, तो बड़े ब्रश की अधिक ज़रूरत पड़ सकती है।

सवाल: बच्चों को चित्रकला के साधन ब्रश इत्यादि क्या अच्छे-से-अच्छे श्रेणी के देने चाहिए?

जवाब: नहीं कोई ज़रूरत नहीं। किन्तु बच्चों की आवश्यकता की दृष्टि से वे अच्छे-से-अच्छे होने चाहिए। अच्छे-से-अच्छे का अर्थ है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला और उपलब्धि की दृष्टि से व्यावहारिक।

सवाल: शुरू-शुरू में क्या यह ठीक नहीं होगा कि बच्चे केवल पेंसिल से अभ्यास करें?

जवाब: नहीं। बच्चे प्रकृति के नज़दीक होते हैं, इसलिए प्रकृति के जितने भी गुण-रंग इत्यादि होते हैं, वे सब उन्हें मिलने चाहिए, और शुरू से ही।

♣ ♣ ♣

शिक्षकों के लिए

सवाल: बच्चे आपसे कभी चित्र बनाने में मदद मांगते हैं?

जवाब: शुरू-शुरू में थोड़ी मदद मांगते हैं, किन्तु वे जब समझ लेते हैं कि मुझसे सीधी-सीधी मदद नहीं मिलती, तो वे नहीं मांगते।

सवाल: पत्रिकाओं में जो चित्र आते हैं, क्या उनकी नकल करने से बच्चे कुछ नहीं सीखेंगे?

जवाब: नहीं, बल्कि उससे उन्हें नुकसान ही होगा।

सवाल: आजकल अंग्रेज़ी ढंग की कुछ ऐसी पुस्तकें आती हैं, जिनमें रेखा-चित्र बने हुए रहते हैं और बच्चों को उनमें रंग भरने का अभ्यास करने के लिए कहा जाता है। क्या यह ठीक है?

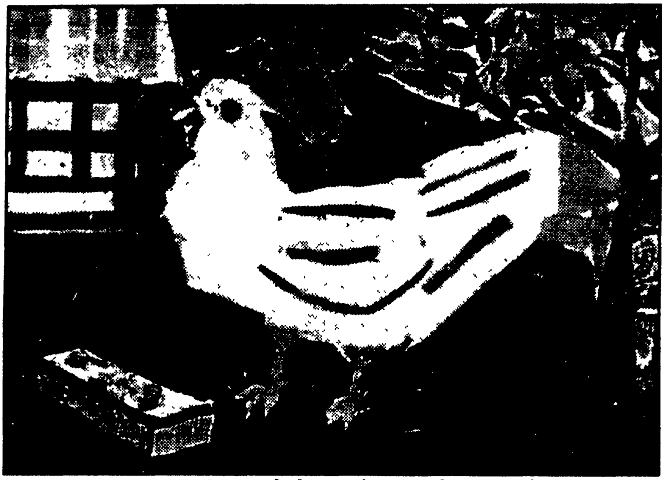

कागज़, धागा, ऊन, रंगीन कपड़े के टुकड़ों का इस्तेमाल करके बनाया गया एक चित्र। जो बच्चों की कल्पना शीलता को बढ़ावा देता है।

जवाब: ऐसा करना गलत है। हालांकि आज के वातावरण में काफी बच्चे ऐसा करना पसंद करते हैं। उन्हें अपने ही चित्र बनाने चाहिए।

सवाल: शिक्षकों के लिए क्या ज़्यादा ज़रूरी है, चित्रकला की पद्धतियों का ज्ञान या बच्चों की मनोवृत्ति को समझना?

जवाब: बच्चों को चित्रकला का अनुभव देने के लिए यह ज़रूरी नहीं कि शिक्षक कला पद्धतियों में निपुण हो, बल्कि मैंने तो यह पाया है कि जो शिक्षक बच्चों की मनोवृत्ति, उनके कला -अनुभव आदि को जानता है, उनके साथ सहानुभूति का अनुभव करता है; वह अच्छे कलाकार की अपेक्षा, जो बच्चों को नहीं समझता है, कहीं अच्छा शिक्षक सिद्ध होता है।

सवाल: मैं सातवीं कक्षा (चौदह वर्ष के बच्चों का) का शिक्षक हूं और इस समूह को चौथे वर्ग से सातवीं कक्षा तक लाया हूं। मेरा अनुभव यह रहा कि जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते गए, वैसे उनके चित्रों में प्राण की कमी होती गई। आपकी क्या राय है इसके बारे में?

जवाबः बच्चे किशोर-अवस्था में प्रवेश करने के समय सयानों की भांति देखना प्रारंभ करते हैं। यह उनके बदलने का काल होता है। आज समाज की धुंधली परिस्थिति में यह चीज़ बच्चों को कमज़ोर बना देती है। उसी का यह असर है। किंतु स्वाभाविक वातावरण बनाने की अगर कोशिश की जाए, तो यह किशोर-अवस्था का संक्रमण-काल बच्चों के लिए बड़ा सृजनात्मक सिद्ध हो जाता है।

सवालः बच्चों के लिए चित्रित पुस्तकों के बारे में आपका लेख हमारे स्कूल के सब शिक्षकों ने पढ़ा। क्या आप सोचते हैं कि इस तरह का चित्रित साहित्य बड़े पैमाने पर तैयार किया जा सकेगा? और यह किस उम्र के बच्चों के लिए होगा?

जवाबः आमतौर पर बच्चों के लिए साहित्य जितना स्थानीय हो, उतना ही अच्छा। शाला के बच्चे अपने से छोटे बच्चों के लिए इस तरह का साहित्य तैयार करें। वह परंपरा अगर बन गई, तो शाला में ही काफी साहित्य तैयार हो जाएगा। जो साहित्य बड़े पैमाने पर तैयार किया जाता है, उसमें यह दृष्टि रखना कोई अव्यावहारिक

स्टेंसिल वर्क के द्वारा भी स्वयं को अभिव्यक्त किया जा सकता है। स्टेंसिल वर्क का यहां एक उदाहरण है।

चीज़ नहीं होगी, बल्कि उसमें पैसे की दृष्टि से भी बचत हो सकती है। चित्रों के चुनाव की भी खूब गुंजाइश होगी। इस तरह का साहित्य सब उम्र के बच्चों के लिए होना चाहिए।

सवाल: आप ऐसे ज़माने की कल्पना करते हैं, जब बच्चों के द्वारा चित्रित साहित्य ही छोटी कक्षाओं में पाठ्यपुस्तकों की पूरी -पूरी जगह ले लेगा? तो उससे क्या लाभ होगा?

जवाब: आज खासतौर पर नई तालीम में पाठ्यपुस्तक कहकर कोई चीज़ नहीं है। हां, बच्चों के लिए अनेक पुस्तकें होनी चाहिए। उनमें जितनी भी हो सकें, चित्रित हों और उन्हें बनाने में जितना भी बच्चों के चित्रों का उपयोग किया जा सके, उतना ही अच्छा होगा। इसका मतलब यह नहीं कि सभी पुस्तकें इस तरह बनेंगी। हमने कहा कि प्राकृतिक दृश्य अच्छे फोटो द्वारा दिए जा सकते हैं। ऊंची कला के नमूने इस्तेमाल किए जा सकते हैं। इन सबमें मैं बच्चों के द्वारा चित्रित पुस्तकों को अधिक महत्व देता हूं।

सवाल: बच्चों के काम की परीक्षा आप कैसे करते हैं?

जवाब: हम परीक्षा लेने वाले कौन? पर्चे लिखाकर या ड्राइंग कराकर परीक्षा लेने में कोई सार नहीं होता। बच्चों का रोज़ का काम ही उनकी परीक्षा है। अगर वे खुश हैं और हमेशा नए -नए चित्र बनाने के लिए उत्सुक रहते हैं, तो वही उनकी परीक्षा में सफलता है।

सवाल: अगर किसी बच्चे ने अच्छा चित्र बनाया, तो वह क्या पूरी कक्षा को दिखाना चाहिए?

जवाब: सभी चित्र कक्षा के समस्त बच्चों को दिखाने चाहिए। किसी बच्चे को ऐसा भान नहीं कराना चाहिए कि वह वर्ग में विशेष स्थान रखता है।

सवाल: कला-वर्ग में ब्लैकबोर्ड रखना चाहिए?

जवाब: हां, कई ब्लैकबोर्ड रखने चाहिए और सफेद व रंगीन खड़िया भी, जिससे बच्चे खूब बड़ी-बड़ी ड्रॉइंग कर सकें।

सवाल: चित्रकला-वर्ग का एक नियमित समय रखना अच्छा है

क्या? या बच्चे अपनी इच्छा के अनुसार जाकर रंग, कूची का उपयोग जब कभी करें, तो अच्छा होगा?

जवाब: सबसे अच्छा तो यह होगा कि बच्चों को पूरी-पूरी स्वतंत्रता हो। जब चाहें जाकर चित्र आदि बनाएं और अगर वातावरण में इस प्रवृत्ति की अहमियत का भान होगा, तो बच्चे ऐसा करेंगे ही। चित्रकला-वर्ग का नियमित समय रखना चित्रकला का कोई भी समय न रखने से तो अच्छा है ही।

सवाल: कला-वर्ग में शिक्षक इन सिद्धांतों के अनुसार काम करता है, ऐसा मान लीजिए। उसका कला-वर्ग आदर्श रूप से चलता है, फिर भी बच्चे की बाकी 23 घंटे की ज़िंदगी पर उसका क्या असर होगा?

जवाब: शिक्षा का काम तो है चौबीस घंटे का। किन्तु जहां यह नहीं होता और केवल एक ही घंटे उचित शिक्षा का मौका मिलता है, वहां उसी परिमाण में उसका लाभ होगा। किन्तु कला-शिक्षा चूंकि बच्चे के आंतरिक जीवन के साथ घनिष्ठ संबंध रखती है, इसलिए उसका वह असर भी हो सकता है, जो ऐसी किसी दवाई का होता है जो बहुत कम मिकदार में दी जाती है।

♣ ♣ ♣

अस्वाभाविक चित्र?

सवाल: एक बच्चे ने ऐसा चित्र बनाया कि एक आदमी को फांसी पर लटका रहे हैं। आप क्या समझते हैं, उसके पीछे क्या भावना काम कर रही थी?

जवाब: उस विचार ने ज़रूर बच्चे के मन पर कुछ छाप डाली है। इसके पीछे करूणा भी हो सकती है और बदले की हिंसात्मक भावना भी।

सवाल: बच्चों को इस तरह के अस्वस्थ ढंग के चित्र (फांसी इत्यादि के) बनाना ठीक है क्या? उनको कैसे रोका जा सकता है?

जवाब: उनको अगर इस तरह के चिंतन से बचाना है, तो इस तरह के जितने भी चित्र बच्चे बनाना चाहें, बनाने दीजिए। इन भावनाओं

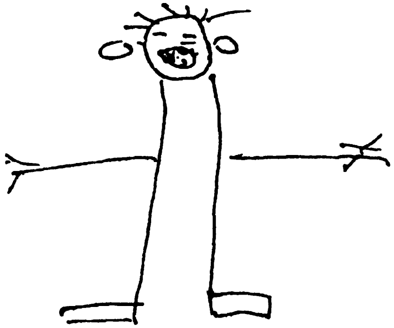

का निकास अगर चित्रकला आदि विषयों के द्वारा नहीं हुआ, तो किसी ऐसे ढंग से होगा, जो समाज का और व्यक्ति का नुकसान करेगा। मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी यह प्रवृत्ति अत्यंत उपयोगी होती है।

♣ ♣ ♣

सवाल: आपका खुद भी अनुभव है कि सब बच्चे चित्रकला नहीं करना चाहते, वे कला-वर्ग के समय भागकर पेड़ पर चढ़ते हैं, तो आप क्या करते हैं?

जवाब: मेरा अनुभव ऐसा नहीं है। किन्तु जब कभी-कभी, जो कि बहुत कम होता है, बच्चे जाकर पेड़ पर चढ़ना पसंद करते हैं, तो मैं उन्हें जाने देता हूं और कभी-कभी तो मैं खुद भी जाकर पेड़ पर चढ़ जाता हूं।

देवी प्रसाद: शिक्षाविद व कलाविद। रवीन्द्रनाथ के स्कूल शान्तिनिकेतन से स्नातक की उपाधि ली। सेवाग्राम की आनंद-निकेतन शाला में कला विशेषज्ञ के रूप में कार्य करते हुए देवी प्रसाद जी ने बालकों के साथ हुए अपने अनुभवों के आधार पर सन् 1958 में एक पुस्तक तैयार की – 'शिक्षा का वाहन कला'। नेशनल बुक ट्रस्ट ने 1999 में इसे हिन्दी में प्रकाशित किया (पृष्ठ 138, मूल्य 50 रुपए)। उपरोक्त लेख इसी पुस्तक से लिया गया है।

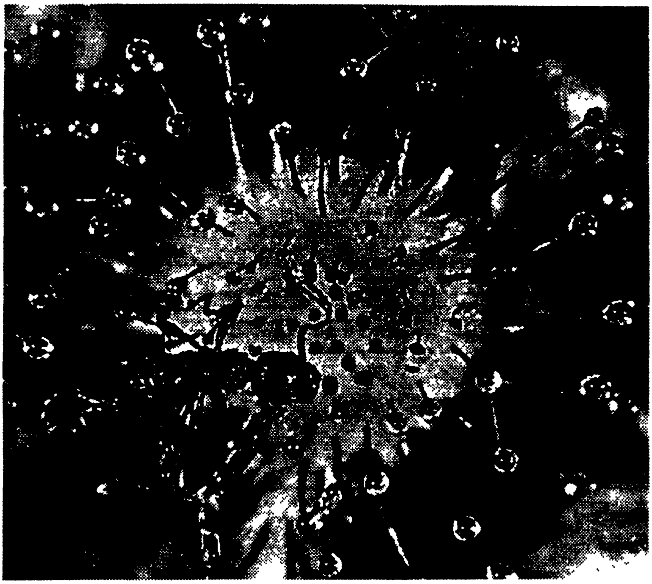

आसान नहीं है भोजन-चुराना

किशोर पवार

जी हां, यह सौ फीसदी सच बात है। पौधों के लिए जितना आसान है भोजन बनाना, उतना ही मुश्किल है भोजन चुराना। लेकिन इस तरह भोजन जुटाना भी काफी मशक्कत भरा काम है इसके लिए अपनी जड़ों, पत्तियों, फूलों और दूसरे सूक्ष्मजीवों की मदद भी लेनी पड़ती है। और भी कई पापड़ बेलने पड़ते हैं।

अपने दम पर हवा पानी और धूप से भोजन बना लेने वाले हरे पेड़ों की दुनिया में कुछ ऐसे भी पौधे हैं जिनमें अन्यान्य कारणों से यह गुण नहीं होता। मसलन भोजन बनाने के लिए चाहिए पानी व खनिज सोखने वाली जड़ें, क्लोरोफिल युक्त हरी पत्तियां व अन्य हिस्से और सूर्य का प्रकाश। अब यदि इनमें से किसी भी एक का अभाव हो तो ज़ाहिर है भोजन बनाना संभव न होगा।

मान लीजिए कि आपके घर में दाल, चावल, आटा, नमक, मिर्च तो है पर बर्तन नहीं हैं तो खाना बनेगा किसमें? यदि बर्तन भी हैं परन्तु लकड़ी या गैस अर्थात ऊर्जा नहीं है तो भोजन पकेगा कैसे? कारण जो भी हों, ऐसा ही कुछ पौधों के साथ हुआ है। किसी के पास पत्तियां तो ढेर सारी हैं जैसे चन्दन और चीड़ के पेड़, परन्तु लायक जड़ें नहीं हैं जो मिट्टी से पानी व खनिज लवण सोख सकें। कुछ वनस्पतियां ऐसी भी हैं जिनके पास न तो पत्तियां हैं और न ही जड़ें जैसे अमर बेल, तो भला बात बने तो कैसे?

परन्तु ये पौधे हैं कि हिम्मत नहीं हारते या फिर यूं कहिए कि इनका विकास कुछ ऐसे हुआ है कि कुछ जोड़-तोड़ कर जैसे-तैसे कुछ यहां से, तो थोड़ा कहीं और से, अपना भोजन हासिल कर ही लेते हैं। बिना छोटा-बड़ा देखे। बिना जात-पात के बन्धन के। इनका तो उद्देश्य एक मात्र है – जैसे भी हो जीवित रहने के लिए भोजन जुटाना और वंश को बनाए रखना। इसके लिए इनमें तरह-तरह के उपाय विकसित हुए हैं। तरह-तरह के संबंध जोड़ने होते हैं, नए-नए अंग विकसित हुए इस दौरान इनमें – संबंधों को मज़बूत बनाने हेतु और भोजन को चुराने के लिए। आइए, ऐसे ही कुछ उपायों का जायज़ा लिया जाए। शुरुआत करते हैं हमारे चिरपरिचित पेड़ चन्दन से।

चदन यानी उधार की खुशबू

सौंधी-सौंधी सुगन्ध देने वाला चन्दन का पेड़ आंशिक रूप से परजीवी है। इसमें बाकायदा सामान्य रंग-रूप की हरी पत्तियां होती हैं। 30-40 फीट ऊंचा सदा हरा रहने वाला यह पेड़ पत्तियों की बदौलत प्रकाश संश्लेषण के द्वारा अपना भोजन स्वयं बनाने में सक्षम है, परन्तु इस हेतु लगने वाला पानी व खनिज लवण इसे दूसरे पेड़ों से प्राप्त करने पड़ते हैं।

अपनी शुरुआती ज़िन्दगी का पहला साल चन्दन का पौधा खुद अपने बलबूते पर खींच लेता है, परन्तु इसके बाद ज़िन्दा रहने के लिए यह शीशम, शिरीष, यूकेलिप्ट्स, रीठा, बबूल, करंज, साल, हर्रा, खेर और अर्जुन जैसे पेड़ों से अपना नाता जोड़ता है। चन्दन की जड़ें ज़मीन के अन्दर-ही-अन्दर पोषक

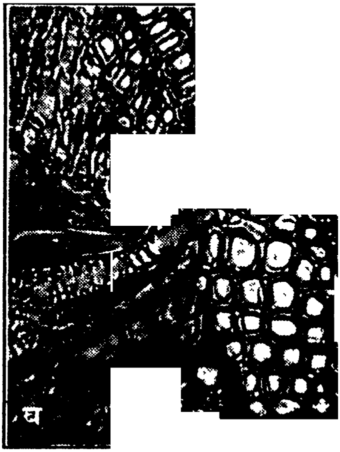

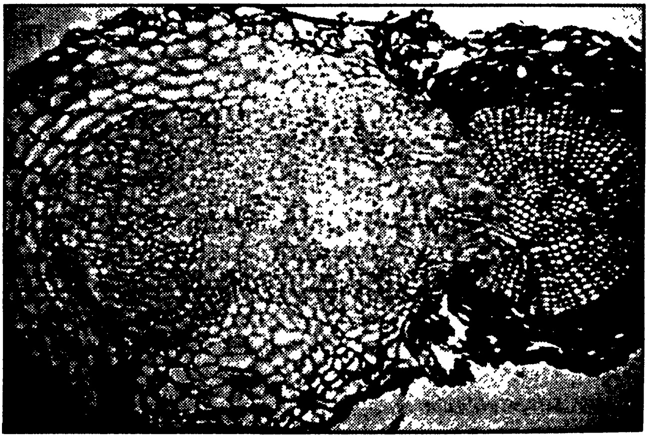

जड़ों से भोजन जुटाना: यहां परजीवी पौधे द्वारा अपनी जड़ों को दूसरे पौधे की जड़ों से जोड़कर अपनी भोजन संबंधी ज़रूरतों को पूरा करने का एक उदाहरण दर्शाया गया है। **चित्र: अ** में आपस में दो लिपटी हुई जड़ें दिखाई दे रही हैं। गहरे रंग वाली जुनीपेरिस मोनोस्पर्मा की जड़ है जो मेज़बान पौधा है। हल्के रंग वाली जड़ पेडिकुलेरिस सेंट्रेनथिका की है जो परजीवी है। **चित्र: ब** में उस जगह का क्रॉस सेक्शन है जहां परजीवी जड़ ने मेज़बान जड़ को थाम रखा है। यहां परजीवी तंतु मेज़बान जड़ के ज़ायलम में घुस गए हैं। **चित्र: स** में दाहिनी ओर छोटी, गहरे रंग की जड़ मेज़बान की है जिसके अंदर बाईं ओर की हल्के रंग की परजीवी जड़ घुस गई है।

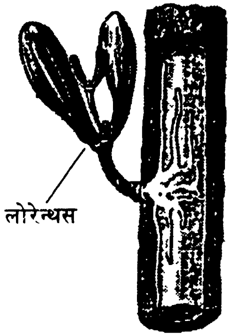

आंशिक परजीवी लोरेन्थस: आंशिक परजीविता का एक और उदाहरण – किसी पेड़ के तने पर जड़ें फैलाता हुआ हरी पत्तियों वाला लोरेन्थस।

पेड़ों की जड़ों से जा चिपकती हैं। चिपकने का काम कुछ विशेष प्रकार की चूषक जड़ें करती हैं जिन्हें चूषकांग (हॉस्टोरिया) कहते हैं। चन्दन एक आंशिक रूप से जड़-परजीवी है क्योंकि शेष भोजन इसकी पत्तियां बनाती ही हैं। चूंकि चन्दन में खुशबू इसके परिपक्व होने पर ही आती है जिसमें अन्य पेड़ों का भी योगदान रहता है, अतः इसकी खुशबू उधार की ही हुई न! चन्दन की लकड़ी बहुत महत्वपूर्ण होती है और कई धार्मिक अनुष्ठानों में काम आती है। इसकी महत्ता का अंदाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि इसकी तस्करी भी खूब होती है।

चीड़: सहारे की ज़रूरत

प्रकृति में सूक्ष्म और विशाल के बीच पनपा एक अनूठा रिश्ता है माइकोराइज़ा (माइकोस यानी फफूंद और राइज़ोम यानी जड़)। पोषण के लिए बना यह संबंध ऊंचे-ऊंचे विशालकाय चीड़, ओक व बर्च और सूक्ष्म फफूंदी का है। इन पौधों की जड़ों में अन्य पौधों की तरह मिट्टी से पानी व खनिज लवण सोखने वाले मूल रोम नहीं होते। ऐसी स्थितियों में इन ऊंचे पेड़ों के लिए भोजन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा पानी कैसे सोखा जाए, यह एक बड़ी समस्या होती है; जिसका निदान सूक्ष्म फफूंदों की सहायता से किया जाता है। वैसे फफूंदों को भी अपने भोजन का कुछ हिस्सा इन पेड़ों से मिलता रहता है। कुछ लेना, कुछ देना की तर्ज़ पर बना यह रिश्ता बीज धारण करने वाले 80% परिवारों में पाया जाता है; जो यह बताता है कि बड़ा होने के लिए भी कमज़ोर की मदद लगती है।

बड़े पेड़ व लघु फफूंदी का यह संबंध दो तरह का होता है। कुछ पेड़ों की जड़ों पर यह बाहरी आवरण के रूप में रहती है जैसे चीड़ और ओक। जबकि मैपल में यह जड़ों के अन्दर ही अपना डेरा जमा लेती है। जड़-फफूंदी संबंध में जो फफूंदें जड़ से चिपकी रहती हैं उनके नाम हैं – सीनोकोकम, जीऐस्ट्रम व स्केलोडर्मा।

अमरबेल: एक नहीं हज़ार जड़ें

अमरबेल का तो नाम ही रोचक है। यह बिना जड़ की एक हरी-पीली,

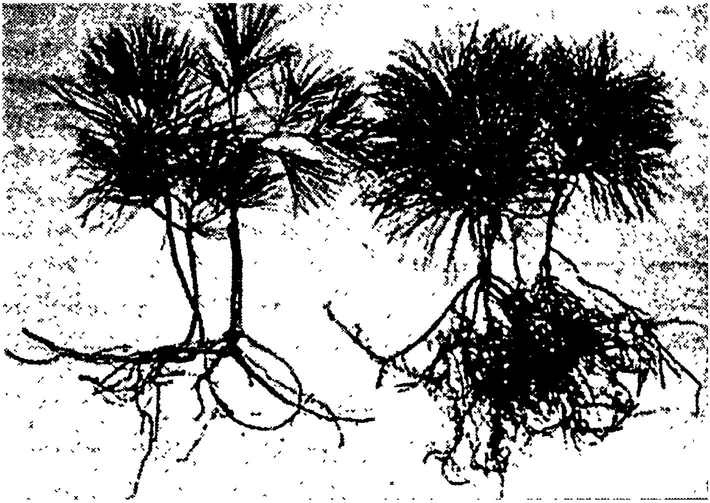

एक्टोट्रोफिक फफूंद यानी ऐसी फफूंद जो जड़ों के संपर्क में और आसपास फैल कर पेड़ को खनिज, लवण व पानी उपलब्ध करवाती है। **बाएं चित्र** मे सफेद चीड का तीन साल का पौधा जिसकी जड़ों के आसपास फफूंद नहीं है और **दाहिनी ओर** चीड़ का एक ऐसा पौधा जिसकी जड़ों के आसपास खूब सारी फफूंद फैल गई है।

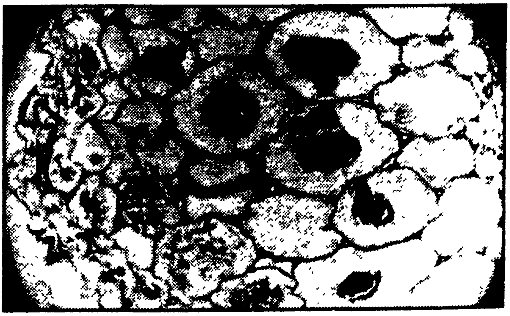

एंडोट्रोफिक फफूंद यानी वो फफूंद जो जड़ों के अंदर घुस गई है और इस उदाहरण में ऑर्किड की जड़ों की कोशिकाओं के इर्द-गिर्द दिखाई दे रही है। यह रिश्ता परजीवी नहीं है बल्कि सहजीवी है क्योंकि फफूंद एक तरफ पौधे को खनिज, लवण, नाइट्रोजन आदि उपलब्ध कराती है तो दूसरी ओर जड़ों में से शर्करा व अन्य कुछ पदार्थ चूस भी लेती है।

बिना पत्ती की, मोटी धागेनुमा बेल है। यदि इसे तोड़कर दूसरे पौधों पर डाल दें तो यह वहां भी अपना डेरा जमा लेती है। इसका बंगाली नाम स्वर्णलता, इसके सुनहरी रूप की ओर इशारा करता है। संसार में इसकी लगभग 180 प्रजातियां मिलती हैं। हमारे यहां कस्क्यूटा रिफलेक्सा और कस्क्यूटा चाइनेनसिस प्रजाति सामान्यता देखी गई है। इस पौधे के पास न तो पत्तियां हैं, न ही ज़मीन से जोड़ने वाली जड़। अतः भोजन न बना पाने की स्थिति में इसे भोजन चुराना पड़ता है।

यह एक पूर्णतः परजीवी बेल है जिसे अपना भोजन पोषक पौधों से प्राप्त करना पड़ता है। हालांकि अमरबेल में ज़मीन से जोड़ने वाली मुख्य जड़ नहीं है परन्तु इसके तने से जगह-जगह पर विशिष्ट प्रकार की हज़ारों चूषक जड़ें निकलती हैं, जो इसे पोषक के तने से चिपकाए रखती हैं, और वहां से अपने लिए बना बनाया भोजन प्राप्त करती रहती हैं।

अमरबेल को अमर बनाने में इन खूंटे के समान जड़ों का विशेष योगदान है। इन जड़ों के सिरों पर उंगलीनुमा रचनाएं पाई जाती हैं जो पोषक के तने में घुसकर पोषक की भोजन लाने, ले जाने वाली कोशिकाओं से संपर्क स्थापित करती हैं। भारतीय वैज्ञानिक जोड़ी मलिक और सिंह ने बताया है कि इन चूषक जड़ों में विशेष प्रकार के एंज़ाइम पाए जाते हैं। ये सिर्फ उन स्थानों पर ही मिलते हैं जहां अमरबेल अपने पोषक से चिपकती है। ये एंज़ाइम पोषक के तने की कोशिकाओं की दीवार को गला देते हैं। इस तरह इनका दाब संतुलन बिगड़ जाने से ये चूषक जड़ पोषक के तने में घुस जाती है।

परजीवी होने के कारण इसकी संपर्क जड़ों में एक और विशेषता देखी गई है। सामान्य पौधों के संवहन तंत्र में ज़ायलम-फ्लोएम दोनों मिलते हैं। ज़ायलम का काम पानी व खनिज लवणों का संवहन होता है और फ्लोएम का कार्य भोजन को स्थानांतरित करना। देखा गया है कि अमरबेल के चूषक अंगों में केवल फ्लोएम ही होता है, ज़ायलम नहीं। अर्थात जैसा काम, वैसा ऊतक। इस तरह हम देखते हैं कि सामान्य पत्तियां और जड़ न होने से अमरबेल को अपना भोजन जुटाने के लिए कितनी मशक्कत करनी पड़ती है।

कीटभक्षी पौधे

खनिजों की कमी की वजह से लगभग दो लाख पचास हज़ार फूलधारी पौधों में 450 प्रजातियां कीटभक्षियों की श्रेणी में आती हैं। ये पौधे पृथ्वी के विस्तृत भू-भाग पर फैले हुए हैं। इन सभी में कुछ-न-कुछ विशेषताएं होते हुए भी एक समानता यह है कि ये सभी अपने पोषण की

पूर्ति हेतु कीट-पतंगों को पकड़ते हैं, उनका शिकार करते हैं।

इन सभी में एक और समानता है कि ये सभी दलदली भूमि में उगते हैं। इन स्थानों पर हवा-पानी व रोशनी तो पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है परन्तु ज़मीन दलदली होने से हवा से नाइट्रोजन लेकर उसे मिट्टी में छोड़ने वाले सूक्ष्म जीव नहीं रहते। अतः इन जगहों की मिट्टी में मुख्यतः नाइट्रोजन के लवणों की कमी रहती है जो जीवन के लिए ज़रूरी हैं। इसके अतिरिक्त यदि मिट्टी अम्लीय हुई तो केल्शियम, फॉस्फोरस, पोटेशियम और मोलिब्डेनम जैसे महत्वपूर्ण तत्वों की उपलब्धता भी कम होती है।

साधारण पौधों की पत्तियों को तो मुख्य रूप से भोजन ही बनाना पड़ता है। खनिज लवणों की पूर्ति उनकी जड़ें कर लेती हैं। परन्तु इन कीटभक्षी पौधों की पत्तियों को तो विभिन्न कीट पतंगों को आकर्षित कर अपना शेष भोजन भी जुटाना पड़ता है। इसके लिए इन पौधों की पत्तियों में तरह-तरह के रूप रंग मिलते हैं जो इस विशेष कार्य हेतु विकसित हुए अनुकूलन के परिणाम स्वरूप विकसित हुए हैं।

कीटभक्षी पौधों में कुछ पौधों की थोड़ी-सी पत्तियां विशेष रचनाओं में बदल जाती हैं जैसे सिफेलोटस; वहीं ड्रॉसेरा में सारी पत्तियां और वीनस फ्लाई ट्रेप या नीपन्थिस (कलश पादप) में पत्तियों का कुछ हिस्सा कीटों को पकड़ने के लिए विशेष रचना में बदल जाता है। भोजन में खनिजों की पूर्ति हेतु हुए इनके परिवर्तन आश्चर्यजनक और हैरतअंगेज़ हैं। वीनस फ्लाई ट्रेप की पेटीनुमा खुलती, बंद होती पत्तियों को देख डार्विन ने इसे दुनिया का आश्चर्यजनक पौधा यूं ही नहीं कहा था। पिचर-प्लांट्स (नीपेन्थिस) में तो कुछ पत्तियां तरह-तरह के छोटे-बड़े, सजे-धजे नक्काशीदार रंग-बिरंगे कलशों के रूप में मिलती हैं। ये सब साजो-सामान सारी मशक्कत इसलिए कि पर्याप्त और संतुलित भोजन मिलता रहे अपने पौधे को।

पोषण की दृष्टि से इन कीट भक्षियों को स्वपोषी कहें या परजीवी यह भी बड़ी मज़ेदार बात है, क्योंकि इनकी हरी पत्तियां अपना कुछ भोजन तो स्वयं बनाती हैं और बाकी पोषण के लिए ये कीटों का भक्षण करती हैं। अतः कीट भक्षी पौधे स्वपोषी के साथ परजीवी भी हैं।

अंत में एक भ्रम का निवारण और करना ज़रूरी है – दुनिया में कहीं कोई नरभक्षी पेड़ नहीं है जैसाकि अक्सर पत्र-पत्रिकाओं में छपता रहता है। कीटभक्षी अधिकांश छोटे-छोटे पौधे हैं या कमज़ोर लताएं। कुछ तो ऐसे कि हमारे पैरों तले कुचले जाएं तो पता भी न चले जैसे ड्रॉसेरा। नरभक्षी पेड़ होना तो

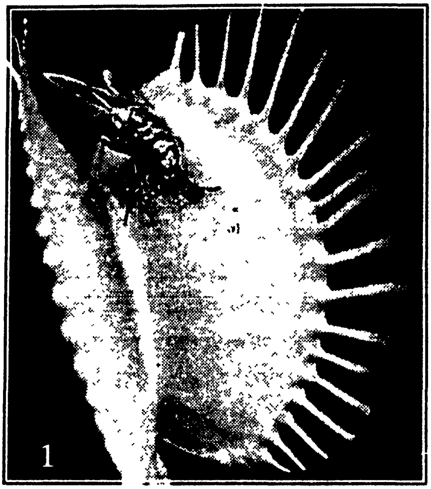

मांसाहारी पौधे: कुछ पौधे अकार्बनिक यौगिकों को तो प्रकाश संश्लेषण के मार्फत प्राप्त करते हैं लेकिन अपनी कार्बनिक यौगिकों की ज़रूरतों के लिए छोटे-मोटे कीटों को पकड़कर उन्हें पचा लेते हैं। नाइट्रोजन की कमी वाली मिट्टी में पाए जाने वाले कुछ पौधों की पत्तियों में ऐसे परिवर्तन पाए जाते हैं जो कीटों का शिकार करने में मदद करते हैं।

चित्र: 1 और 2 में वीनस फ्लाई ट्रेप की पत्ती को दिखाया गया है। वीनस फ्लाई ट्रेप की पत्ती दो चंद्राकार हिस्सों (लोब) से मिलकर बनी होती है। प्रत्येक चंद्राकार लोब के बाहरी किनारे पर नुकीले दांतों की कतार होती है। पत्ती की भीतरी सतह पर संवेदनशील महीन रोएं होते हैं। जैसे ही कोई कीट पत्ती की भीतरी सतह पर महीन बालों को छूता है तुरंत

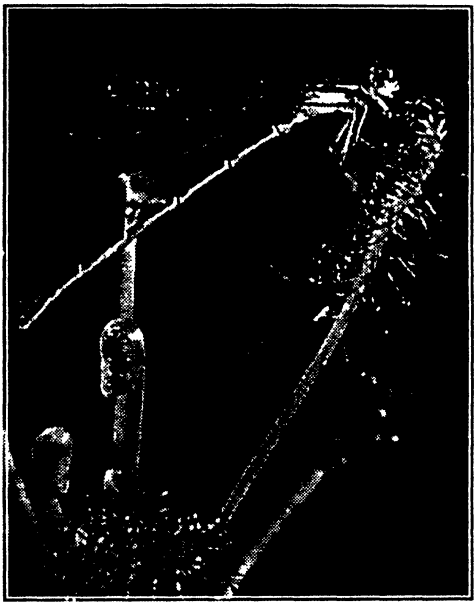

चिपके मतलब गए काम से: सनड्यू के पौधे में एक ग्रंथि पर बालनुमा स्पर्शक (टेनटेकल्स) होते हैं। यह ग्रंथि एक चिपचिपा, खुशबूदार तरल छोड़ती है। इस खुशबू से आकर्षित होकर जो कीट-पतंगे स्पर्शक पर आते हैं, चिपककर वे वहीं रह जाते हैं। जैसे ही कीट चिपक जाता है पड़ोसी स्पर्शक फुर्ती दिखाकर उस कीट को दबोच लेते हैं। यहां चित्र में एक डेमसेल फ्लाई स्पर्शक पर चिपक गई है। इसका भी वही हश्र होगा जो पिचर प्लांट और वीनस फ्लाई ट्रेप में अन्य कीटों का हुआ है।

इस लेख के पहले पृष्ठ पर दिए गए चित्र में भी सनड्यू एक चींटी को पचाने की कोशिश कर रहा है।

लोब हरकत में आते हैं और अपना आकार बदलते हुए पत्ती को बंद कर देते हैं। पत्ती के किनारे पर स्थित दांत इंटरलॉकिंग में मदद करते हैं। कीट को पकड़ने के बाद पत्ती पर मौजूद ग्रंथियों से कुछ एंज़ाइम निकलते हैं जो उस कीट को पचाने का काम शुरू कर देते हैं। इस कीट के पाचन के फलस्वरूप पौधे को कुछ अमीनो अम्ल प्राप्त होते हैं जिसे वह सोख लेता है। **चित्र:3** में पिचर प्लांट की पत्ती को दिखाया गया है। पिचर प्लांट की पत्तियां नलीनुमा हैं जिनमें तरल भरा है। नली के मुंह पर अंदरुनी सतह पर महीन बाल हैं जिनके नुकीले सिरे अंदर की ओर हैं। जैसे ही कोई कीट या मक्खी पिचर प्लांट की नली के भीतर पहुंचता है, अंदर भरे तरल में वह फंस जाता है। यदि वह कीट पत्ती की दीवार पर चढ़कर बाहर आने की कोशिश करता है तो महीन बाल उसे ऐसा करने से रोकते हैं। पत्ती के भीतर तरल में मौजूद एंज़ाइम कीट को पचा लेते हैं और पत्ती प्रोटीन को सोख लेती है।

दूर, इनमें तो कोई झाड़ी भी नहीं है।

रेफ्लेसिया – कुछ भी नहीं अपना

हमने देखा कि आंशिक रूप से परजीवी पौधों में सामान्य रूप-रंग की हरी पत्तियां होती हैं जिनमें भोजन निर्माण होता है, जैसे चन्दन, लोरेन्थस और विस्कम। परन्तु जैसे-जैसे पोषक पर इनकी निर्भरता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे तना व पत्तियां लगातार कम होती जाती हैं। हमारा अगला परजीवी रेफ्लेसिया इस स्थिति के अंतिम छोर पर है। इसे सर स्टेमफोर्ड रेफ्ल्स ने 1818 में सुमात्रा के जंगलों से पहली बार खोजा था। इस जड़ परजीवी की लगभग 14 जातियां इंडोनेशिया और बर्मा (म्यांमार) के जंगलों में मिलती हैं। पोषक पौधों की जो मुख्यरूप से कठलताएं (Liana) होती हैं, उनकी जड़ों से इसका संबंध धागेनुमा रचनाओं से होता है। इस पूर्ण-परजीवी का शरीर केवल पतले धागेनुमा तंतुओं से बना होता है। न तना, न पत्ती। जो कुछ हमें दिखाई देता है वह ज़मीन के ऊपर खिलने वाला इसका विशालकाय फूल। इन फूलों को सबसे बड़े फूल होने का दर्जा प्राप्त है। रेफ्लेसिया अरनोल्डी के लगभग एक मीटर व्यास और 15 किलो वज़न के फूलों की पंखुडियों की मोटाई एक से.मी. तक होती है। लाल-क्रीमी रंग के इस फूल से सड़े मांस जैसी गंध आती है अतः इसका परागण मुर्दाखोर मक्खियों द्वारा किया जाता है। नर और मादा फूल अलग-अलग खिलते हैं। इस फूल के आकार का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि इसकी कलियों का आकार बन्दगोभी के बराबर होता है। रेफ्लेसिया भी पोषक से प्राप्त सारी ऊर्जा अपनी वंश वृद्धि के लिए फूल बनाने में लगाता है।

मोनोट्रोपा: मृतोपजीवी नहीं

मोनोट्रोपा आसाम में खासी पहाड़ियों पर 1800 मीटर की ऊंचाई पर उगने वाला एक विचित्र पौधा है। इसे इंडियन पाइप कहते हैं। यह पूर्णतः क्लोरोफिल-विहीन पौधा है जिसमें सिर्फ एक फूल खिलता है, जो इसके नाम मोनोट्रोपा यूनीफ्लोरा से परिलक्षित होता है।

इसके पौधे ऐसी जगहों पर मिलते हैं जहां ढेर सारा सड़ा-गला कार्बनिक पदार्थ जमा हो। अतः प्रारंभ में इसे मृतोपजीवी कहा जाता रहा है। परन्तु वर्तमान में पता चला है कि यह सच नहीं है। बोनार्कमेन ने स्प्रुस के तने में रेडियो सक्रिय फास्फोरस व कार्बन प्रविष्ट करने के बाद इसके नीचे सड़े-गले वनस्पति पदार्थों पर उगने वाले मोनोट्रोपा का जब रासायनिक विश्लेषण किया तो पता चला कि वहां उपस्थित जड़-फफूंद और मोनोट्रोपा दोनों में रेडियो सक्रिय तत्व पहुंच चुके थे।

फंगल ब्रिज: इंडियन पाइप के नाम से मशहूर पौधा पड़ोसी पौधे की जड़ से भोजन प्राप्त करता है। दूसरे पौधे से इंडियन पाइप तक भोजन पहुंचाने में फंफूदों द्वारा तैयार किया गया 'फंगल ब्रिज' महती भूमिका निभाता है।

तिहरा रिश्ता: स्प्रुस के पौधे की जड़ों के चारों ओर फैला जड़-फफूंद का जाल। यह है तिहरे रिश्ते का तीसरा साथी।

अत: इससे यह निष्कर्ष निकला कि जड़-फफूंदी (मायकोरायज़ा), स्प्रुस व मोनोट्रोपा की जड़ों के बीच एक पोषण पुल का कार्य करती है। इस तरह स्प्रुस की जड़ों से जड़-फफूंद की मार्फत मोनोट्रोपा को भोजन मिलता रहता है। अत: मोनोट्रोपा मृतोपजीवी नहीं, बल्कि जीवितों पर आश्रित रहने वाला एक जड़-परजीवी पौधा है। विशालकाय हरे पेड़ स्प्रुस, रंजक विहीन सूक्ष्म जड़ - फफूंदी और विचित्र पौधे मोनोट्रोपा के बीच पोषण के लिए बना यह तिहरा संबंध सचमुच प्रकृति की विलक्षणता का एक अद्भूत उदाहरण है।

किशोर पवार: इंदौर के होलकर साइंस कॉलेज में वनस्पति वि: ाते हैं।

पुस्तक अंश

कुछ खेल कुछ गणित

प्रायमरी और माध्यमिक स्तर की कक्षाओं में करवाई जा सकने वाली कुछ गतिविधियां

खेलों द्वारा गणित की कक्षा को मज़ेदार, प्रेरक और रोचक बनाया जा सकता है। गणित के खेल छात्रों को सक्रिय रूप से शामिल होने और सीखने का मौका देते हैं। खेलों में बच्चे खुशी और सफलता महसूस करते हैं और इनसे उनमें उत्साह और आत्मविश्वास पैदा होता है।

परंतु गणित के खेल, केवल मज़े और आत्मविश्वास के लिए नहीं हैं। खेल बच्चों की सहायता करते हैं:

- गणित की अवधारणाएं समझने में।
- गणित के कौशल विकसित करने में।
- गणित के तथ्य जानने में।
- गणित की शब्दावली और भाषा समझने में।
- गणित के प्रश्नों का मन-गणित करके झटपट उत्तर देने में।

आगे हम ऐसे ही कुछ खेलों पर विचार करेंगे।

संभाविता का खेल

– संभाविता किसी घटना के होने की एक नाप है।
– हम जितनी अधिक बार किसी प्रयोग को दोहराएंगे उसके परिणाम, सैद्धांतिक संभावना के उतने ही करीब होंगे।

खेलः बाएं और दाएं

दो खिलाड़ियों के लिए खेल।

सामग्रीः दो पांसे, गोटियां और बोर्ड

चित्र में दिखाए अनुसार बोर्ड बनाएं।

गोटी को बीच के खाने में रखें। फिर दोनों पासों को इकट्ठा फेंकें। दोनों पासों की संख्याओं का अंतर मालूम करें। अगर अंतर 0, 1 या 2 हो

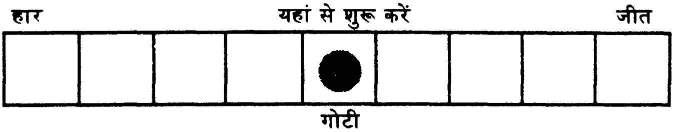

तो गोटी को एक खाना बाएं ओर बढ़ाइए। अगर अंतर 3, 4 या 5 हो तो गोटी को एक खाना दाएं बढ़ाएं। दोनों खिलाड़ी बारी-बारी से पांसे फेंकें, संख्याओं को घटाएं और गोटी को आगे बढ़ाएं। आप कितनी बार जीते या हारे इसका हिसाब रखें। क्लास के सभी बच्चों के नतीजों को इकट्ठा करें।

– छात्र कुल कितनी बार जीते? कितनी बार हारे?
– क्या खेल उचित है? उचित है तो क्यों? अगर नहीं तो क्यों?
– क्या आप खेल को किसी तरह बदल सकते हैं ताकि जीतने की संभावना:
  - हारने से ज़्यादा हो जाए।
  - हारने से कम हो जाए।
  - हारने के बराबर हो जाए।

स्थानीय मान संबंधी खेल

– अंक जिस जगह पर होते हैं वे उसी का मान ग्रहण करते हैं।
– संख्या रेखा एक सीधी लकीर होती है जिसमें संख्याओं को उनके मान के हिसाब से रखा जाता है। यह रेखा अनंत तक जाती है और इसके मध्य में शून्य होता है।

खेल: कोई संख्या सोचें

दो लोगों के लिए खेल।

पहला खिलाड़ी किसी संख्या को सोचने के बाद संख्या रेखा पर उसकी स्थिति दूसरे खिलाड़ी को बताए। उदाहरण के लिए संख्या 0 से 100 के बीच या –10 और –20 के बीच या 1000 और 2000 के बीच हो सकती है। दूसरे खिलाड़ी को संख्या पता करने के लिए प्रश्न पूछने होंगे। पहला खिलाड़ी उन प्रश्नों के उत्तर सिर्फ 'हां' या 'ना' में दे सकता है। दूसरा खिलाड़ी इस प्रकार के प्रश्न पूछ सकता है:
"क्या संख्या 50 से बड़ी है?"

"क्या संख्या 10 से छोटी है?"

सही संख्या मालूम करने के लिए कितने प्रश्न पूछे गए उनकी गिनती करें और हरेक प्रश्न को एक अंक दें। खेल को कई बार दोहराएं जिससे हरेक खिलाड़ी को संख्या चुनने और प्रश्न पूछने के कई मौके मिलें। अंत में जिस खिलाड़ी को सबसे कम अंक मिलेंगे वही जीतेगा।

अंकों के गुणधर्म

अंकों को उनके गुणधर्मों के आधार पर पहचाना जा सकता है। उन्हें अलग-अलग समूहों में रखा जा सकता है। जैसे सम, विषम, गुणनखंड, गुणांक (Multiple), अभाज्य (Prime), आयताकार, वर्गाकार, या त्रिकोण।

खेल: कोई संख्या सोचें

पहला खिलाड़ी 1 से 100 के बीच की कोई संख्या सोचे। दूसरा खिलाड़ी अब पहले खिलाड़ी द्वारा चुनी संख्या को मालूम करे। इसके लिए दूसरा खिलाड़ी, पहले खिलाड़ी से संख्या के गुणधर्मों के बारे में सवाल पूछ सकता है। उदाहरण के लिए:

"क्या वह एक अभाज्य संख्या है?"

"क्या वह एक वर्ग संख्या है?"

"क्या वह एक विषम संख्या है?"

"क्या वह 3 का गुणनखंड है?"

पहला खिलाड़ी केवल 'हां' या 'ना' में ही जवाब दे सकता है। खेलते समय दूसरे खिलाड़ी के पास संख्याएं काटने के लिए 10x10 का एक चार्ट होगा, तो उसे काफी आसानी होगी।

ध्यान दें हरेक खिलाड़ी को, संख्या चुनने और प्रश्न पूछने का मौका कई बार मिले।

कोणों के नाप का अनुमान लगाना

– कोण, मोड़ की एक माप है। इसे अंश में नापा जाता है।

– कोण कई प्रकार के होते हैं। न्यून कोण (90 से कम), समकोण (90 डिग्री), अधिककोण (90 से ज़्यादा, 180 से कम), और बृहतकोण (180 से ज़्यादा)।

खेलः कोण का अनुमान लगाना (खेलः एक)

दो लोगों के लिए खेल।

पहला खिलाड़ी कोई भी कोण चुने जैसे 49 डिग्री। दूसरा खिलाड़ी बिना चांदे की मदद के केवल अपने अनुमान से यह कोण बनाए। पहला खिलाड़ी अब चांदे की मदद से कोण नापे। असली कोण और बनाए हुए कोण के बीच का अंतर दूसरे खिलाड़ी के अंक होंगे। उदाहरण के लिए दूसरे खिलाड़ी ने जब कोण नापा तो कोण केवल 39 डिग्री का ही निकला। इसलिए दूसरे खिलाड़ी को 10 अंक (49–39) मिलेंगे।

दोनों खिलाड़ियों को बारी-बारी से खेलने का मौका मिलेगा। अंत में जिसके सबसे कम अंक होंगे वही खिलाड़ी जीतेगा।

कोण का अनुमान लगाना (खेलः दो)

पहले दोनों खिलाड़ी सफेद कागज़ पर 15 अलग-अलग कोण बनाएं। उसके बाद वे कागज़ों को आपस में बदल लें और एक-दूसरे द्वारा बनाए कोणों का अनुमान लगाएं। फिर वे हरेक कोण को चांदे से नाप कर अपने अंदाज़ और शुद्ध माप की तुलना करें। कोणों के शुद्ध माप और अनुमान के बीच जो कुछ अंतर होगा, उतने ही अंक खिलाड़ियों को मिलेंगे। जिस खिलाड़ी को सबसे कम अंक मिलेंगे वही जीतेगा।

दूसरा खिलाड़ी बिना चांदे की मदद के 49 डिग्री का कोण बनाता है।

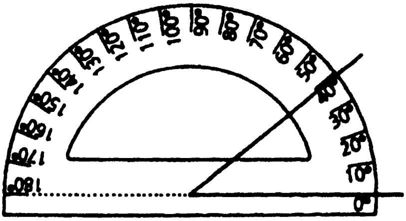

परन्तु कोण केवल 39 डिग्री का ही निकला। इसलिए दूसरे खिलाड़ी को 10 अंक (49°–39°) मिलेंगे।

गणित की गतिविधियां (मूल्यः 75 रुपए)

मूल लेखक - जेन पोर्टमैन एवं जेरमी रिचर्डसन (हिन्दी अनुवाद - अरविंद गुप्ता)

मंगवाने का पता

एकलव्य

ई–7/एच. आई. जी. 453, अरेरा कॉलोनी

भोपाल, म. प्र. पिनः 462016 फोनः 0755–2463380

सवालीराम

पिछली बार अभिजीत सराठे ने सवालीराम से एक सवाल पूछा था कि गाय, भैंस, बकरी, घोड़ों की तरह हम भी घास खाकर ज़िंदा क्यों नहीं रह पाते?

जवाब: दुनिया में पेड़-पौधों, घास आदि की भारी तादाद को देखते हुए घास-पत्तियां, तने वगैरह खाकर ज़िंदा रहने वाले जानवरों की प्रजातियां काफी कम हैं। यही वह सोचने वाला बिन्दु भी है कि आखिर चक्कर क्या है – कुछ जानवर ही पत्तियां, घास क्यों पचा पाते हैं?

पहले तो यह देखा जाए कि किसी खाद्य पदार्थ को पचाने का क्या मतलब है। जब भी हम किसी चीज़ को खाते हैं तो उसे चबाकर छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ते हैं। इस चबाए गए खाने पर बाकी का काम हमारा आमाशय करता है। कहने को तो खाना पेट में चला गया है लेकिन इस भोजन को हमारा शरीर ऐसे ही इस्तेमाल नहीं कर सकता। हमारा आहार तंत्र एक लंबी नली है जिसके दोनों सिरे खुले हैं। इस नली में पड़ा भोजन तभी हमारे काम आ सकता है जब इसे आहार नाल की दीवार सोख ले। मगर भोजन को सोखने से पहले भोजन में कई आवश्यक परिवर्तन ज़रूरी हैं। भोजन को उस रूप में बदलना होगा ताकि वह हमारी आहार नाल को

हम घास क्यों नहीं खाते?

पार कर सके। भोजन में यह परिवर्तन होते हैं रासायनिक क्रियाओं द्वारा।

वैसे तो हमारे भोजन में स्टार्च, वसा, प्रोटीन आदि कई पदार्थ होते हैं। परन्तु भोजन का एक प्रमुख हिस्सा मंड यानी स्टार्च है। स्टार्च आहार नाल की दीवार को पार नहीं कर सकता, इसलिए पहले स्टार्च को शक्कर में बदला जाता है; फिर इस शक्कर को आहार नाल की दीवार सोख सकती है और शरीर के अन्य अंगों को इसे उपलब्ध करवा सकती है।

स्टार्च को बदलने का काम हमारी छोटी आंत में होता है। वैसे तो स्टार्च में बदलाव का काम हमारे मुंह से शुरू हो जाता है। (याद कीजिए मुंह में सूखा पोहा रखकर चबाने पर मिठास का अहसास होने लगता है।) स्टार्च से शक्कर बनने के लिए हमारी आंत की दीवार से कुछ खास रसायनों का रिसाव आहार नली में होता है। इन रसायनों को एंज़ाइम कहते हैं। स्टार्च को शक्कर में बदलने का काम एमाइलेज़ नामक एंज़ाइम करता है। इसी तरह प्रोटीन, वसा आदि को भी शरीर में सोखे जा सकने वाले पदार्थों में बदलने के लिए अलग-अलग एंज़ाइम होते हैं।

हमारे आहार तंत्र में स्त्रावित होने वाले एंज़ाइम में से कोई भी ऐसा नहीं है जो घास, पत्तियों आदि यानी सेल्यूलोज़ को ऐसे किसी पदार्थ में तब्दील कर पाए जिसे आहार नली में सोखा जा सके। घास-पत्तियां, लकड़ी यानी सेल्यूलोज़ का पाचन करने के लिए सेल्यूलेसेज़ (Cellulases) नामक एंज़ाइम की ज़रूरत होती है। सिर्फ इंसान ही क्यों, किसी भी बहुकोशिकीय जीव के पास सेल्यूलोज़ को शक्कर में तब्दील करने की क्षमता नहीं है। यहां अपवाद स्वरूप सिल्वर फिश (पुरानी किताबों में अक्सर पाया जाने वाला सफेद चमकीला कीट), केंचुआ और लकड़ी में छेद करने वाले एक मोलस्का का नाम ही याद आता है।

पेड़-पौधों की कोशिकाओं और जंतुओं की कोशिकाओं में एक बड़ा अंतर यह है कि वनस्पति कोशिकाओं की दीवार सेल्यूलोज़ नामक पदार्थ से बनी होती है। दरअसल पेड़-पौधे के कुल वज़न का एक बड़ा हिस्सा सेल्यूलोज़ ही है। घास मूलतः सेल्यूलोज़ ही होता है और इसे हम पचा नहीं सकते।

यदि गाय, भैंस, बकरी, भेड़ जैसे पशु घास खाकर उसे पचा पाते हैं तो इसकी वजह है उनके पाचन तंत्र में ऐसे सूक्ष्मजीवों यानी बैक्टीरिया और प्रोटोज़ोआ की मौजूदगी जो सेल्यूलोज़ को पचाने की क्षमता रखते हैं। जो विकसित जीव घास, पत्ती, लकड़ी वगैरह खाकर ज़िंदा हैं वे इन सूक्ष्म-

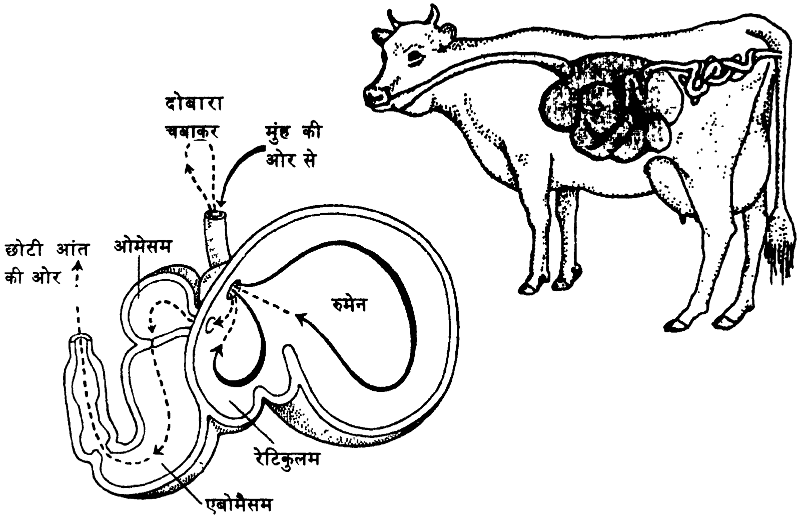

गाय का आहार तंत्र: गाय का पेट कुछ खास बनावट लिए होता है जिसमें मोटेतौर पर चार हिस्से होते हैं। इनमें से रुमेन और रेटिकुलम में भारी तादाद में सूक्ष्मजीव निवास करते हैं। गाय अपने भोजन को सबसे पहले रुमेन और रेटिकुलम में पहुंचाती है, जहां इस भोजन के साथ सूक्ष्मजीव क्रिया करते हैं। यहां से भोजन दोबारा गाय के मुंह में पहुंचाया जाता है जिसे गाय आराम से चबाती है। आराम से चबाया गया भोजन पेट के ओमेसम हिस्से में पहुंचता है जहां इस भोजन से पानी सोख लिया जाता है। इस भोजन को अब एबोमैसम में पहुंचाया जाता है, यहां हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की मौजूदगी से सूक्ष्मजीवों का खात्मा हो जाता है।-सेल्यूलोज़ को जिन सरल रूपों में बदला गया है उनका अवशोषण छोटी आंत में होता है। गाय सिर्फ घास-फूस ही नहीं कागज़, सूती कपड़ा आदि भी खाकर पचा सकती है क्योंकि इनमें भी सेल्यूलोज़ होता है।

जीवों से प्रेम बनाकर रखते हैं। यानी यहां मामला सहजीविता यानी सिम्बायोसिस का ही है।

पूरी प्रकिया समझने के लिए गाय को बतौर उदाहरण लेते हैं। गाय और अन्य कई पशु जुगाली करते हैं। जुगाली करने वाले प्राणियों का पेट बड़ा ही विचित्र होता है। इनके पेट में चार भाग होते हैं: रुमेन, रेटिकुलम, ओमेसम और एबोमैसम। इनमें से पहले तीन आहार नाल के विकसित रूप हैं। एबोमैसम को ही सही मायने में आमाशय कहना चाहिए। रुमेन और रेटिकुलम में भारी तादाद में अन-

पाचन में बैक्टीरिया का सहयोग: गाय के रुमेन के भीतर का एक दृश्य। यहां बैक्टीरिया के चारों ओर अधपचा भोजन दिखाई दे रहा है। रुमेन में बैक्टीरिया द्वारा छोड़े गए एंज़ाइम से भोजन का पाचन शुरू होगा। यह वातावरण बैक्टीरिया की वृद्धि के लिए एकदम मौजूं है। चित्र के बीच वाले हिस्से में एक बैक्टीरिया, एक से दो होने की तैयारी में है।

ऑक्सी सूक्ष्मजीव निवास करते हैं। इनमें बैक्टीरिया और सिलिएटेड प्रोटिस्ट प्रमुखतः से होते हैं।

जब गाय घास खाती है तो उसे बिना चबाए रुमेन और रेटिकुलम में पहुंचा देती है, यहां सूक्ष्मजीव सेल्यूलोज़ को तोड़ते हैं और मेटाबोलाइज़ कर उन्हें सरल वसा अम्लों में तब्दील कर देते हैं। फिर इसे वापस गाय के मुंह में पहुंचाया जाता है। अब गाय इसे आराम से चबाती है। इसे जुगाली कहते हैं। जुगाली के समय वह इस लुगदीनुमा पदार्थ को महीन पीस देती है। तत्पश्चात इसे ओमैसम में पहुंचा दिया जाता हे और वहां से एबोमैसम में।

गाय के पेट के रुमेन और रेटिकुलम में अनगिनत जीव पलते हैं जो प्रमुखतः दो तरह के होते हैं – बैक्टीरिया और प्रोटोज़ोआ। जुगाली करने वाले जीवों में ही प्रोटोज़ोआ की तकरीबन 30 प्रजातियां पाई गई हैं। यदि गाय के पेट से एक ग्राम पदार्थ निकालें तो उसमें लगभग 10 लाख सूक्ष्मजीव मिलेंगे।

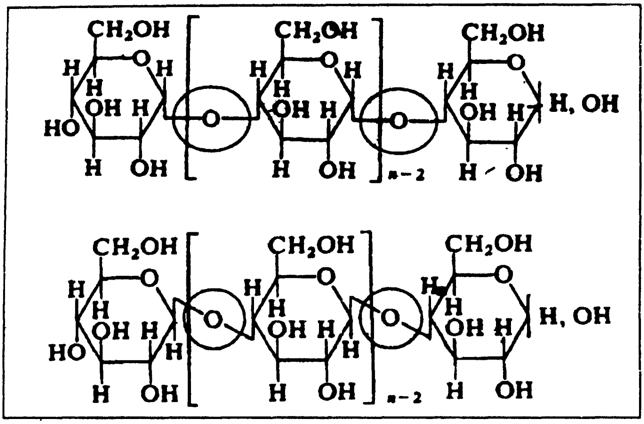

स्टार्च और सेल्यूलोज़ की बनावट: स्टार्च और सेल्यूलोज़ में वैसे तो काफी समानता है लेकिन सिर्फ एक बंध (Bond) में फर्क से सारा मामला ही बदल जाता है। जिन बंधों की वजह से सेल्यूलोज़ स्टार्च जैसा नहीं है उसे गोला लगाकर दिखाया गया है।

आमतौर पर गाय, बकरी आदि पशु जिन घास, पत्तियों को खाते हैं उनमें प्रोटीन की मात्रा काफी कम होती है लेकिन इनमें अकार्बनिक नाइट्रोजन (अमोनियम, नाइट्रेट और नाइट्राइट आयन के रूप में) काफी होती है। सूक्ष्मजीव इस अकार्बनिक नाइट्रोजन का संश्लेषण कर अपने लिए अमीनो अम्ल और प्रोटीन का बंदोबस्त करते हैं।

गाय के आहार तंत्र में जुगाली के बाद भोजन रुमेन से ओमैसम में आता है जहां भोजन में से पानी को सोख लिया जाता है, और उसके बाद भोजन को ओबेमैसम में पहुंचा दिया जाता है। ओबेमैसम में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल भोजन में मौजूद सूक्ष्मजीवों को मार देता है और वहां मौजूद एंज़ाइम सूक्ष्मजीवों को पचा लेते हैं। एक मोटा अनुमान है कि गाय को रोज़ तकरीबन 100 ग्राम प्रोटीन तो इन सूक्ष्मजीवों से ही मिल जाता है। आप सोच रहे होंगे कि सूक्ष्मजीव इसी तरह खत्म होते रहे तो रुमेन में सूक्ष्मजीव बचेंगे कैसे? खैर, इस ओर से निश्चित रहिए क्योंकि रुमेन में सूक्ष्मजीवों में गुणन की दर इतनी ज़्यादा है कि काफी सारे सूक्ष्मजीव मारे जाने के बावजूद वे न केवल अपने नुकसान की भरपाई कर लेते हैं, बल्कि गाय के साथ सहजीविता वाले संबंध को भी कायम रखते हैं।

मलभक्षी खरगोश

गाय में सूक्ष्मजीवों का वास आहार नाल के शुरू में होता है मगर खरगोश, चूहा आदि (रोडेंट) में ये सूक्ष्मजीव उसकी आहार नाल के अंतिम हिस्से अंधनाल (Caecum) को अपना घर वनाकर रहते हैं। ये सूक्ष्मजीव वहां सेल्यूलोज़ को पचाते हैं, लेकिन चूंकि यह वहां अवशोषित नहीं हो सकता, इसलिए यह पचा हुआ सेल्यूलोज़ मल के रूप में निकल जाता है। परन्तु खरगोश, रोडेंट वगैरह अपने मल को फिर से खा लेते हैं। इस तरह वो पचा हुआ सेल्यूलोज़ उनके काम आ जाता है। इसे मलभक्षण या कोप्रोफेज़ी कहते हैं। मलभक्षण की बात सुनकर हो सकता है आप नाक-मुंह सिकोड़ें लेकिन चूहों के बारे में यह देखा गया है कि यदि वे अपना मल न खा पाएं तो उनमें विटामिन की कमी के लक्षण उभरने लगते हैं।

लकड़ी खाती दीमक

अब दीमक की ओर चलते हैं। अधिकांश दीमक का भोजन लकड़ी, सड़ी-गली पत्तियां वगैरह हैं जो मुख्यतः सेल्यूलोज़ ही है। दीमक की स्थिति भी जुगाली करने वालों जैसी ही है। दीमक खुद सेल्यूलोज़ को पचा नहीं सकती इसलिए उसे भी सूक्ष्मजीवों की मदद लेनी होती है। दीमकों की आंत के पिछले हिस्से में सूक्ष्मजीव पलते हैं। वहां पर ये इतनी बड़ी संख्या में होते

खरगोश का तरीका: खरगोश, रोडेंट वगैरह की अंधनाल (Caecum) में सूक्ष्मजीव रहते हैं। अंधनाल में सेल्यूलोज़ सरल पदार्थों में बदलने के बावजूद, वहां इसका अवशोषण नहीं हो सकता; इसलिए खरगोश इन्हें पाने के लिए दूसरा रास्ता अख्तियार करते हैं।

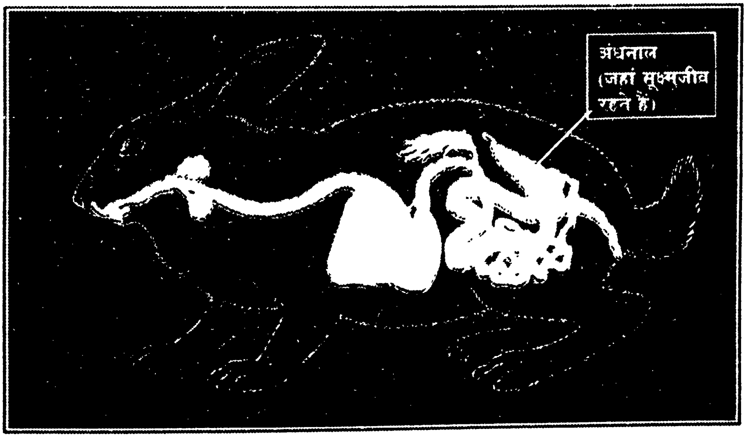

दीमक के पेट में पाए जाने वाले सेल्यूलोज़ पचाने वाले कुछ प्रोटोज़ोआ।

हैं कि कई दीमकों का तो एक तिहाई वज़न इन सूक्ष्मजीवों से बनता है। इसी तरह के सूक्ष्मजीव एक लकड़ी-भक्षी तिलचट्टे यानी कॉकरोच में भी पाए जाते हैं। जुगाली करने वाले जीवों और दीमक में पाए जाने वाले ये सूक्ष्मजीव बिना ऑक्सीजन के ही जी पाते हैं। यदि दीमक को बहुत ज़्यादा ऑक्सीजन वाले वातावरण में रखा जाए तो ये सूक्ष्मजीव और साथ में दीमक भी मारी जाती है।

दीमक में पाए जाने वाले सूक्ष्मजीव सेल्यूलोज़ का विघटन करके ग्लूकोज़ नहीं बनाते। वे कार्बन डाइऑक्साइड और ऐसीटिक अम्ल बनाते हैं। दीमक इस ऐसीटिक अम्ल का उपयोग अपने लिए करती है। दीमक वाले मामले में एक और बात थोड़ी फर्क है, वह यह कि दीमक कभी भी सूक्ष्मजीवों को नहीं पचाती। दीमक इन सूक्ष्मजीवों पर इस तरह से निर्भर है कि पैदा होते ही शिशु दीमक प्रौढ़ दीमकों का मल खाकर खुद को सूक्ष्मजीवों से लैस कर लेती हैं।

ऐसा नहीं है कि हमारी आंतों में सूक्ष्मजीव नहीं पाए जाते। हमारी आंतों में भी करोड़ों की संख्या में बैक्टीरिया होते हैं। ये कुछ विटामिन बनाते हैं और हमारी ज़रूरत की पूर्ति करते हैं। लेकिन हमें सेल्यूलोज़ पचाने वाले बैक्टीरिया नहीं मिले हैं। यदि मिले होते तो बात ही कुछ और होती?

यह जवाब चकमक पत्रिका के मई–जून 2001 के अंक में प्रकाशित लेख 'हम घास क्यों नहीं खाते?' (लेखक: सुशील जोशी) पर आधारित है।

भोजन और आहार तंत्र की प्रकृति

भोजन के बारे में जब बात हो रही हो तो हमारे आहार तंत्र में छोटी आंत का महत्व किसी से छिपा नहीं है। अक्सर तुलना के लिहाज़ से यह कहा जाता है कि शाकाहारी प्राणियों की आंत काफी लंबी और घुमावदार होती है, जबकि मांसाहारी प्राणियों की आंत अपेक्षाकृत कम लंबी होती है, और सर्वभक्षियों की आंत की लंबाई इन दोनों के बीच की होती है। आंतों की लंबाई में पाए जाने वाले अंतर की वजह यह बताई जाती है कि प्राणी जो भोजन लेते हैं उसे पचाना जितना आसान होगा, उनकी आंतों की लंबाई उतनी ही कम होगी। लेकिन प्राणी अगर ऐसा भोजन लेते हों जिसे पचाने की प्रक्रिया काफी जटिल किस्म की है तो आंतों की लंबाई कुछ ज़्यादा होगी। जैसाकि देखा गया है कि मांसाहारी प्राणी जो भोज्य पदार्थ खाते हैं उसे पचाना, और पाचन के दौरान बने हुए पदार्थों का अधिकतम अवशोषण करना काफी आसान होता है। जबकि शाकाहारी प्राणी जो पेड़-पौधे खाते हैं, उन्हें पचाने और उनसे बने पदार्थों का अधिकतम अवशोषण करने के लिए काफी लंबी आंत की ज़रूरत होती है।

आंतों की लंबाई पर से एक उदाहरण याद आया – टेडपोल और मेंढक का। टेडपोल जो मेंढक की शुरुआती अवस्था है, एक शाकाहारी जीव होता है। इस अवस्था में टेडपोल की छोटी आंत काफी लंबी और जलेबी जैसी घुमावदार होती है। टेडपोल जब वयस्क अवस्था में प्रवेश करता है यानी मेंढक बनता है तो वह मांसाहारी बन चुका होता है। इसलिए इसकी छोटी आंत की लंबाई पहले की अपेक्षा काफी कम हो जाती है, साथ ही घुमाव भी कम हो जाते हैं। (अगले पृष्ठ पर चित्र देखिए)

इसी तरह कैलिफोर्निया क्वेल (California Quail) नामक पक्षी का मामला तो और भी विचित्र है। यह पक्षी गर्मी के मौसम में ज़्यादातर कीट और बीज खाता है और ठंड के दिनों में घास वगैरह। मौसम के हिसाब से खानपान की वजह से क्वेल की आंतों की लंबाई

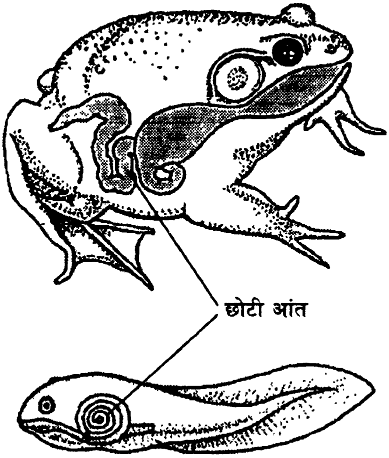

ठंड के मौसम में थोड़ी बढ़ जाती है और गर्मी के मौसम में कुछ घट जाती है।

जहां आंतों के बारे में इतनी बात हो रही है तो यह भी बता देना उचित होगा कि फीताकृमि (टेपवर्म) जैसे जंतुओं में न मुंह होता है, न कोई पाचन तंत्र। फीताकृमि तो इंसानों या अन्य रीढ़धारियों की आंतों में निवास करते हैं जहां वे पचाए जा रहे भोजन के सागर में गोता लगा रहे होते हैं। फीताकृमि अपने शरीर की बाहरी दीवार से अपनी ज़रूरत का भोजन सीधे ग्रहण कर लेते हैं। इस तैयार भोजन को पचाने के लिए न किसी आमाशय की ज़रूरत है, न किसी आंत की।

– विविध स्रोतों से संकलित

सवालीराम से पूछा है सवाल

सवाल: दिल की धड़कन कैसे चलती है?

– आयुष पाराशर, खिरकिया, हरदा, म. प्र.

यदि आपने इस सवाल के बारे में कभी सोचा हो या इस सवाल का जवाब जानते हो तो संदर्भ पत्रिका के पते पर ज़रूर लिख भेजिए।

ज़रा सिर खुजलाइए

पिछली बार आपसे सवाल पूछा था कि 6 माचिस की तीलियों से आपको 4 संगत (एकरूप) समबाहु त्रिभुज बनाने हैं। साथ ही शर्त यह भी थी कि तीलियों को तोड़ना-मोड़ना नहीं है।

इस सवाल के हमारे पास कुछ सही जवाब आए हैं, उनमें से दो जवाब यहां दे रहे हैं। इनके अलावा और भी तरीके हैं जिन पर आप विचार कर सकते हैं।

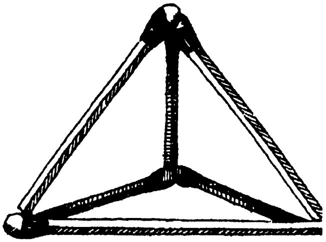

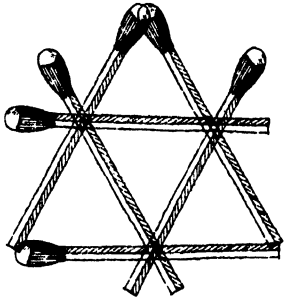

सही जवाब भेजने वाले हैं: मीना लदोईयां, हनुमानगढ़ राजस्थान; राघव बावा, हांसी हरियाणा; पीटर भूरिया, मंदसौर म.प्र.; टीकाराम पटेल, जांजगीर छ.ग.।

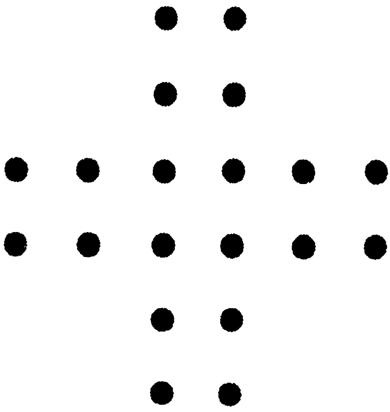

इस बार का सवाल

यहां बाईं ओर 20 स्थिर बिन्दुओं की जमावट को देखिए। आपको दो काम करने हैं। पहला, इन बिन्दुओं से अलग-अलग आकार के बनने वाले वर्गों को गिनना है और उनकी संख्या बतानी है। दूसरा, इन 20 बिन्दुओं में से किन्हीं 6 बिन्दुओं को इस तरह मिटाना है कि किसी भी आकार का वर्ग न बने। यदि सवाल कठिन लग रहा हो तो आप वर्ग गिनकर उनकी संख्या भी बता सकते हैं। अपने जवाब जल्द हमारे पास भेजिए।

चालक पॉलिमर्स

बी.एस.पाटील एवं संगीता काले

पॉलिमर हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का हिस्सा हैं। अभी तक इनसे ऊष्मा के, विद्युत के कुचालक तो बनाए जाते ही थे लेकिन अब इनसे विद्युत चालक बनाना भी मुमकिन हो गया है। बहुलक के इस गुण की वजह से आने वाले समय में माइक्रो-इलेक्ट्रॉनिक्स के क्षेत्र में भारी परिवर्तन आने की संभावना है। शायद नेनो कम्प्यूटर भी बना सकते हैं।

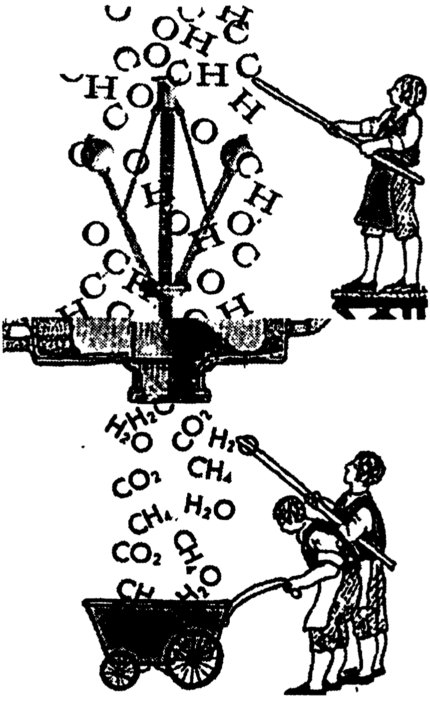

बहुलक यानी पॉलिमर। यह शब्द हमने कई बार पढ़ा, सुना है फिर भी ऐसा लगता है कि यह हमारी रोज़मर्रा की बोलचाल का हिस्सा नहीं बन सका है। यदि मैं आपसे कहूं कि हम बहुलकों के घेरे में रहते हैं, तो आपको ज़रूर अचरज होगा लेकिन यही हकीकत है। हम जो भोजन करते हैं उसमें मौजूद प्रोटीन्स, कार्बोहाइड्रेट्स जैसे हिस्से; हम जो कपड़े पहनते हैं – सूती, रेशमी, ऊनी, टेरीलीन, नायलॉन आदि; प्लास्टिक-रबर की चप्पलों के विविध हिस्से, बिजली के बटन, रेडियो, टी.वी. के केबिनेट इन सबमें बहुलक मौजूद होते हैं।

कार्बन के रेशों से बना कपड़ा। यहां कपड़े का 20 गुना आवर्धित चित्र है।

पिछले कुछ दशकों में पॉलिमर्स पर बहुत शोध हुए हैं और इनका इस्तेमाल भी अंधाधुंध होने लगा है। यह बेजा इस्तेमाल अब पर्यावरण के लिए एक बड़ी समस्या बनकर उभर रहा है। समस्या इसलिए है क्योंकि पॉलिमर से बने सामान का विघटन काफी मुश्किल से, बहुत लम्बे समय बाद होता है। इसलिए इनसे बने सामानों के इस्तेमाल पर विविध किस्म की पाबंदियां लगाई जा रही हैं। प्लास्टिक की पतली पॉलिबेग पर तो अनेक शहरों में रोक लगाई जा चुकी है। इन पॉलिबेग की वजह से नालियां बंद हो जाती हैं और गंदे पानी की निकास व्यवस्था को सुचारू चलाए रख पाना असंभव हो जाता है। चारों ओर बिखरी पॉलिबेग न सिर्फ वनस्पतियों के लिए खतरा बन गई हैं, पर साथ ही वे प्राकृतिक सौंदर्य को भी नुकसान पहुंचाती हैं। ज़मीन-नदी-नालों के मार्फत ये प्लास्टिक समुद्र तक पहुंचकर समुद्री जीवन तक के लिए एक खतरा पैदा कर रहा है।

जैसा चाहोगे वैसा बनेगा।

पॉलिमर्स यानी बहुलकों का विकास 20वीं सदी में जितनी तेज़ी से हुआ, उसका एक प्रमुख कारण यह है कि उन पदार्थों में जैसा चाहो वैसा गुण लाया जा सकता है। यानी अलादीन

के चिराग की तरह हैं वो। आमतौर पर बहुलकों का एक सामान्य गुण है – विद्युत कुचालकता। इसी खासियत की वजह से बिजली के तारों के ऊपरी कुचालक खोल, विविध तरह के केबल्स, रेडियो-ट्रांज़िस्टर, टी.वी. वगैरह इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों के ऊपरी केबिनेट, रसोई घर में इस्तेमाल होने वाले बर्तनों के ऊष्मा कुचालक हैंडल, स्क्रू-ड्रायवर की मुट्ठी वगैरह पॉलिमर्स से ही बनाए जाते हैं।

लेकिन हाल के वर्षों में ऐसा महसूस होने लगा है कि विद्युत कुचालक पॉलिमर्स का क्षेत्र अब विद्युत चालक पॉलिमर्स में तब्दील होने जा रहा है। सन् 2000 में रसायन विज्ञान का नोबेल पुरस्कार चालक बहुलका यानी कंडक्टिंग पॉलिमर्स को मिला है। ऐसा लगता है कि इस खोज की वजह से प्लास्टिक युग को एक नई ज़िन्दगी मिली है। इस नोबेल पुरस्कार को पाने वाले हैं – अमेरिकी शोधकर्ता हीगर एवं मेकडरमिट और जापानी वैज्ञानिक शिरकावा। इस खोज की वजह से पदार्थ विज्ञान के क्षेत्र में एक अनूठा नया दरवाज़ा खुल गया है।

किसी भी पदार्थ के भौतिक व रासायनिक गुण उस पदार्थ की आण्विक और परमाण्विक संरचना पर निर्भर करते हैं। पदार्थ किन परमाणुओं से मिलकर बना है, परमाणु आपस में किस तरह जुड़े हैं, अणु किस तरह से आपस में बंधे हुए हैं, अणुओं के बंधन से बनने वाली संरचना सलीके से गुंथी है या नहीं? यानी यह पदार्थ क्रिस्टलीय है या अक्रिस्टलीय है, ऐसी ही कई अन्य बातों के आधार पर पदार्थ के गुणधर्म तय होते हैं। सामान्य पदार्थों के अणुओं का आकार नगण्य होता है जैसे पानी (H_2O), अमोनिया (NH_3), ऑक्सीजन (O_2), नाइट्रोजन (N_2) आदि। लेकिन पॉलिमर के अणु, (सामान्य पदार्थों के अणुओं की तुलना में) विशालकाय प्रतीत होते हैं। इन दोनों के आकारों को समझना है तो यह कह सकते हैं कि सामान्य अणु यदि माला का मोती है तो पॉलिमर मोतियों की माला। इस माला में मोतियों की किस्म, संरचना, उनकी संख्या आदि से अगर चाहें तो माला के गुणधर्मों में बदलाव करना संभव है। पॉलिमर की चेन संरचना में थोड़ा-सा परिवर्तन करने मात्र से पदार्थ के गुणों में अंतर दिखाई देने लगते हैं। ऐसे परिवर्तन की संभावना के कारण ही इससे एकदम मुलायम पदार्थ से लेकर अत्यंत कड़े पदार्थ तक, धातुओं की उच्च प्रत्यास्थता (इलास्टिसिटी) वाले पदार्थ से लेकर भुरभुरे पदार्थ तक, आसानी से मोड़े जा सकने वाले पदार्थ, ऊष्मा से नरम पड़ सकने वाले पदार्थ से लेकर ऐसे पदार्थ जिन पर ऊष्मा का कोई प्रभाव न पड़े, आदि बनाए जा सकते हैं। गुब्बारे के आसानी

से ताने जा सकने वाले रबर से कार-ट्रक या हवाई जहाज़ के कठोर टायर तक के पदार्थ इन पॉलिमर से बनाए जा सकते हैं।

चालक पॉलिमर को 'कृत्रिम धातु' भी कहा जाता है क्योंकि इन पॉलिमर की चालकता धातुओं की चालकता की तरह मुक्त इलेक्ट्रॉन (Free Electron) की वजह से होती है। जब धातु के परमाणु इकट्ठा होते हैं तब हरेक परमाणु के ये संयोजी इलेक्ट्रॉन उस अकेले परमाणु के नहीं रह जाते बल्कि वे सभी परमाणुओं के लिए उपलब्ध हो जाते हैं। इस वजह से धन आयनों की सुव्यवस्थित संरचना में बहने वाला मुक्त इलेक्ट्रॉन्स का सागर तैयार हो जाता है। ऐसे धातु के टुकड़े में मौजूद सभी मुक्त इलेक्ट्रॉन विद्युत क्षेत्र के धनात्मक सिरे की ओर प्रवाहित होने लगते हैं यानी उस टुकड़े में से विद्युत बहने लगती है। चालक पॉलिमर में भी बिल्कुल ऐसा ही होता है। धातुओं की तरह पॉलिमर में भी मुक्त इलेक्ट्रॉन और उसकी वजह से प्रवाही इलेक्ट्रॉन की मात्रा ज़्यादा होती है। इन पॉलिमर्स का इस्तेमाल रिचार्जेबल बैटरी में होने की अत्यधिक संभावना है। बैटरी का इस्तेमाल वाहनों में या पोर्टेबल उपकरणों में किया जा सकता है।

तांबा विद्युत का अच्छा सुचालक है लेकिन मज़बूती के लिहाज से कमज़ोर है। दूसरी ओर स्टील खासा मज़बूत है लेकिन तांबे के मुकाबले विद्युत का कमज़ोर सुचालक है। चालक पॉलिमर में तांबे और लोहे दोनों के गुण होंगे, साथ ही यह वज़न में भी हल्का होगा यह एक और फायदा है। ये बहुलक प्रकाश उत्सर्जित करने वाले डायोड में, फोटोवोल्टिक सेल में और विविध फिल्म ट्रांज़िस्टर्स में इस्तेमाल किए जा सकेंगे।

भाग:2

माइक्रो-इलेक्ट्रॉनिक्स के क्षेत्र में चालक पॉलिमर्स के कई तरह के इस्तेमाल हो सकते हैं। यहां माइक्रो-इलेक्ट्रॉनिक्स से तात्पर्य इंटीग्रेटड सर्किट बनाने की तकनीक में किए जाने वाले शोध से है। आज के दौर में इस क्षेत्र में सिलिकॉन और जर्मेनियम इन दो अर्द्धचालकों का राज है। इन दिनों कम्प्यूटर के क्षेत्र में कम -से-कम जगह में ज़्यादा-से-ज़्यादा सर्किट भर देने की मांग उठ रही है। इस मांग को देखते हुए यह महसूस किया जा रहा है कि सिलिकॉन-जर्मेनियम की अपनी सीमाएं हैं इसलिए इन दोनों अर्द्ध-चालकों के बूते मांग पूरी कर पाना दिन-पर-दिन कठिन होता जाएगा।

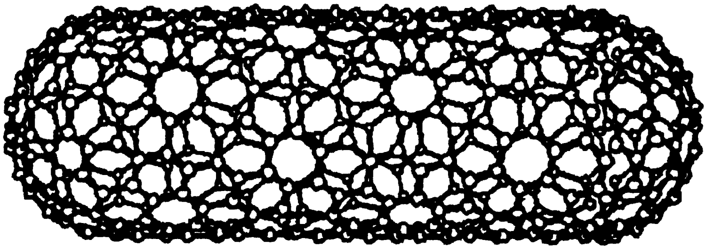

कार्बन नेनो नलिका: लम्बी, पतली परत की खोखली कार्बन की नली जिसे एस. इंजिमा ने 1991 में खोजा। यह नली बनी थी 1.4 नेनोमीटर व्यास वाले, तार के आकार वाले लंबे अणु से। इस नली के विद्युत चालकता, प्रकाश की चालकता, आदि गुणधर्म अणु के आकार, लम्बाई, व्यास और अणु पर पड़े ऐंठनों के हिसाब से बदलते हैं। ऐंठनों की वजह से अणु में इलेक्ट्रॉन्स की जमावट बदलती है और उनका धातु से अर्धचालकों में रूपांतरण होता है। परम्परागत चालक धातुओं की अपेक्षा इनका प्रतिरोध और कम होता है।

अभी हम 3 मिमी × 3 मिमी क्षेत्रफल वाली सिलिकॉन चिप पर 3 अरब सर्किट फिट कर पा रहे हैं। यह हमारी मौजूदा तकनीकी सीमा है जिससे और आगे बढ़ पाना असंभव-सा है। इन तमाम बातों को ध्यान में रखते हुए शोधकर्त्ताओं का ध्यान चालक पॉलिमर की ओर गया।

आजकल चिप पर बनाए जाने वाले सर्किट की तुलना में ये पॉलिमर के अणु और भी बहुत छोटे होते हैं, साथ ही उन्हें बनाना ही आसान और किफायती है। लेकिन एक और भी बड़ा फायदा है – वह यह कि पॉलिमर की आण्विक संरचना में थोड़े से फेरबदल करने मात्र से मन चाहे इलक्ट्रॉनिक और प्रकाशकीय गुणधर्म प्राप्त किए जा सकते हैं। इसलिए इंटीग्रेटड सर्किट बनाने से पहले ही पॉलिमर की आण्विक संरचना में, ज़रूरत के हिसाब से परिवर्तन किए जा सकते हैं। फिर इस पॉलिमर से ज़रूरत के हिसाब से सर्किट बना सकते हैं। इस तकनीक को आण्विक इंजीनियरिंग (Molecular Engineering) कहा जाता है। इसकी वजह से इंटीग्रेटड सर्किट बनाना काफी आसान होता साथ ही चिप पर सर्किट की संख्या भी बढ़ाई जा सकती है। सर्किट की संख्या बढ़ाने का अर्थ है चिप की गति बढ़ेगी और पुर्ज़ों की कार्यक्षमता में भी वृद्धि होगी। माइक्रो-इलेक्ट्रॉनिक्स

बनावटी नाक

जब नाक जैसी चीज़ भी बनावटी बनने लगे तो कान खड़े होना स्वाभाविक ही है। हाल ही में नियोट्रॉनिक्स नाम की कंपनी ने एक बनावटी नाक बना डाली जो हमारी असली नाक की तरह खुशबू का अहसास करती है, लेकिन कुछ फर्क तरह से।

इस नाक में संवेदक कोशिकाओं के स्थान पर कार्बनिक पदार्थ पायरोल के बहुलक से बने संवेदक होते हैं। इन पॉलिमर्स की विशेषता यह है कि ये विद्युत के सुचालक होते हैं। इन पर कुछ खास पदार्थ चिपक जाएं तो इनकी चालकता बदल जाती है। इस नाक में 12 संवेदक लगे हैं। जब भी इन संवेदकों पर से कोई खुशबूदार हवा बहेगी तो खुशबू में शामिल विभिन्न पदार्थों की वजह से संवेदकों की चालकता में आए परिवर्तन को रिकॉर्ड कर लिया जाता है और पोलर प्लॉट (एक किस्म के चित्रात्मक प्रस्तुतिकरण) पर खुशबू का चित्र बनाकर उसे पहचान लिया जाता है।

शायद आप जानते ही होंगे कि चाय, कॉफी, शराब आदि उद्योगों में खुशबू का काफी महत्व है।

के नज़रिए से एक चालक पॉलिमर है – कार्बन नेनोट्यूब्स। कार्बन नेनोट्यूब की संरचना चित्र में दिखाए अनुसार खींचे हुए फुटबॉल की तरह होती है। सन् 1991 में कार्बन की इस आण्विक संरचना (फुटबॉल कार्बन) की खोज की गई थी।*

कार्बन की यह गोल-बेलनाकार नली 1.4 नेनोमीटर व्यास वाली है (1 नेनोमीटर यानी 10^{-9} मीटर)। इस नली की लम्बाई, आकार (Shape), व्यास और नली पर लगे ऐंठनों से अणु के गुणधर्म तय होते हैं। इन नेनोट्यूब्स से अचालक, सुचालक, अर्ध-चालक, इलेक्ट्रोनिक पुर्ज़े बनाए जा सकते हैं। इन पुर्ज़ों का आकार सिर्फ कुछ नेनोमीटर होगा और इन सब पुर्ज़ों को मिलाकर आज के 'लेपटॉप' से भी काफी छोटा नेनो-कम्प्यूटर बनाया जा सकेगा।

बी.एस.पाटील: संगमनेर कॉलेज में रसायन विज्ञान के प्रमुख हैं। विज्ञान लेखन भी करते हैं।

संगीता काले: फर्गूसन कॉलेज, पुणे में इलेक्ट्रॉनिक्स पढ़ाती हैं।

हिन्दी अनुवाद: माधव केलकर।

यह लेख शैक्षणिक संदर्भ (मराठी) अंक 18 से साभार।

* फुटबॉल कार्बन पर और जानकारी के लिए संदर्भ के अंक 18 (जुलाई-अगस्त 1997) में प्रकाशित लेख 'फुटबॉल कार्बन' पढ़िए।

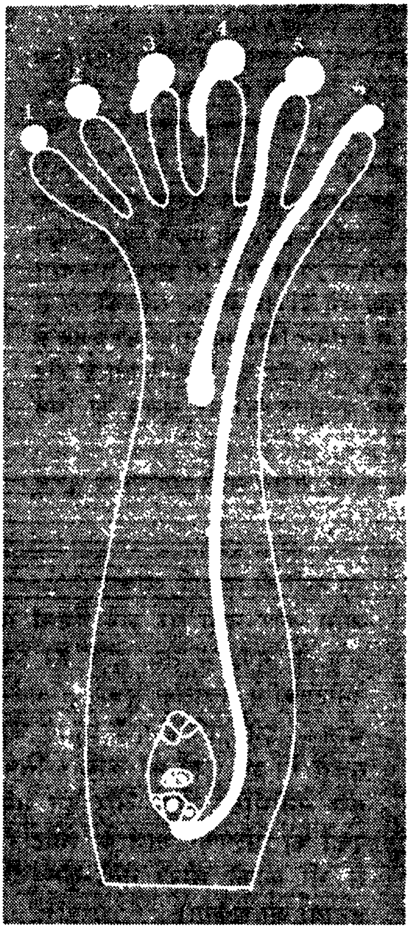

परागकणों का सफर कीट, हवा, पक्षियों आदि के माध्यम से फूल के वर्तिकाग्र तक पहुंचकर पूरा होता है। लेकिन किस्सा यहीं खत्म नहीं होता। फूल के वर्तिकाग्र तक पहुंचा परागकण उस फूल की प्रजाति का न हुआ तो वो परागकण वर्तिकाग्र पर वैसा ही पड़ा रहेगा। किन्तु फूल और परागकण एक ही प्रजाति के हुए तो परागकण उस वर्तिकाग्र से पानी और शर्करा जैसे पदार्थ ले सकता है। इस खान-पान से परागकण फूलने लगता है और परागनली बनने का सिलसिला शुरू हो जाता है। परागनली बढ़ते हुए वर्तिकाग्र में प्रवेश कर लेती है और धीरे-धीरे अंडाशय तक पहुंच जाती है। यहां परागनली बनने की प्रक्रिया को छह चरणों में दिखाने की कोशिश की है।

परागनली को बनते हुए देखना घास के फूल के साथ भी संभव है।

पराग कणों का अंकुरण

घास के फूलों में भी...

कमलकिशोर कुंभकार

हमारे आपके लिए फूल भले ही आकर्षण और सुंदरता का पर्याय हो सकता है पर पौधे के लिए यह अधिकतम ऊर्जा खर्च करके अगली पीढ़ी का सूत्रपात करने के लिए बनाया गया एक ऐसा हिस्सा है जो जनन क्रिया से सीधे-सीधे जुड़ा है। कुल मिलाकर फूल जननांगों को धारण

करता है। फूल की संरचना में मुख्य रूप से चार भाग अंखुड़ी, पंखुड़ी, पुंकेसर और स्त्रीकेसर होते हैं। इनमें से अंखुड़ी और पंखुड़ी दोनों सहायक भाग होते हैं तथा पुंकेसर नर जननांग व स्त्रीकेसर मादा जननांग हैं। पुंकेसर में नर गेमेट यानी नर जनन कोशिका (पराग कण) और स्त्रीकेसर में मादा गेमेट यानी मादा जनन कोशिका (अण्ड कोशिका) का निर्माण किया जाता है जो निषेचन की क्रिया से अर्थात मिलकर बीज बनाते हैं।

इस क्रिया के दौरान फूल के परागकोष फटते हैं और इनमें से हज़ारों की संख्या में परागकण निकलकर आसपास फैल जाते हैं। इनमें से कुछ परागकण स्त्रीकेसर के वर्तिकाग्र (Stigma) पर पहुंच जाते हैं। इस प्रकार पराग कणों का स्त्रीकेसर तक पहुंचना परागण (Pollination) कहलाता है। हवा, कीट, पानी, जानवरों, मनुष्यों आदि के द्वारा परागण का यह कार्य होता है। बहरहाल इस के बारे में और चर्चा न करते हुए हम इस लेख के खास मुद्दे पर आ जाते हैं।

निषेचन की विधि

परागण के दौरान परागकण तो स्त्रीकेसर के वर्तिकाग्र पर गिरते हैं, पर स्त्रीकेसर के नीचे स्थित अण्ड कोशिका के साथ अपने केन्द्रक को मिलाने के लिए परागकण के सामने मुख्य बाधा होती है स्त्रीकेसर की लम्बी वर्तिका। इस लम्बी वर्तिका (स्टाइल) को पार करने के लिए परागकण वर्तिकाग्र की सतह पर अंकुरित होता है और एक लम्बी नलिका बनाकर वर्तिकाग्र को भेद देता है। इसके बाद यह पराग नलिका नर केन्द्रक को लेकर वर्तिका में वृद्धि करती जाती है और अंत में नर केन्द्रक को अण्ड कोशिका से मिला देती है। इस मिलन यानी निषेचन से बीज बनने की शुरुआत होती है।

पराग अंकुरण का महत्व

फूलों के पराग कणों का अंकुरण पौधों के जीवन की निरंतरता बनाए रखने के लिए बहुत आवश्यक है क्योंकि पराग कणों में अंकुरण नहीं होने मात्र से ही बीज बनना रुक सकता है। प्रयोगशाला में पराग कणों के अंकुरण का अध्ययन करने की विधि में पराग कणों को पानी में या शक्कर के हल्के घोल में कुछ देर रखते हैं और बाद में सूक्ष्मदर्शी से देखने पर इनमें लम्बी-लम्बी पराग नलिका दिखाई देती है। अक्सर इस छोटे से प्रयोग मात्र से ही पराग अंकुरण देखकर संतोष कर लिया जाता है। हालांकि प्राकृतिक रूप से होने वाले पराग अंकुरण को एक सरल प्रयोग के ज़रिए देखा जा सकता है। अर्थात इस प्रयोग में पराग कण, पराग नलिका, स्त्रीकेसर का वर्तिकाग्र और वर्तिका एक साथ देखे जा सकते हैं।

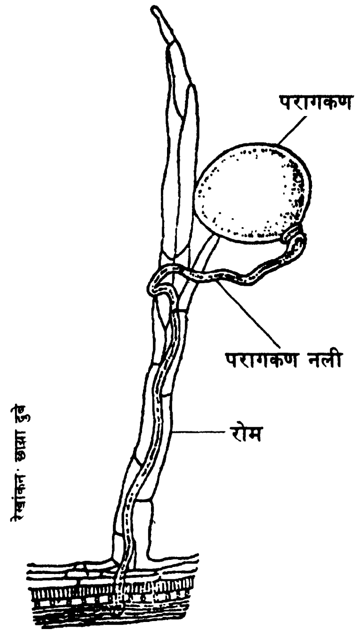

यहां रेखाचित्र के द्वारा स्टिग्मा के एक रोम पर पड़ा पराग कण और उसकी अंडाशय की ओर जाती पराग नली को दिखाने की कोशिश की गई है।

पौधे की पहचान

यह पौधा वास्तव में एक घास है, जो हमारे आसपास पाई जाती है। हो सकता है चित्र देखकर शायद तुरन्त पहचान में आ जाए; और यदि पहचानने में दिक्कत हो तो किसी वनस्पति-शास्त्री से पूछा जा सकता है। इसे वनस्पति शास्त्र की भाषा में 'डाइकेन्थियम एन्यूलेटम' कहा जाता है जिसमें सबसे ऊपर तीन से पांच तक बालियां लगी होती हैं। पहचान का एक तरीका है इसकी गठानों पर मिलने वाले रोओं का घेरा यानी एन्युल्स। पहचान के लिए इस घास का फोटो पीछे के अंदर के आवरण पर दिया गया है।

ये बालियां वास्तव में इस घास के फूलों का समूह (पुष्पक्रम) होती हैं जिनमें छोटे-छोटे अनेक फूलों में से बाहर झांक रहे स्त्रीकेसर के वर्तिकाग्र देखे जा सकते हैं। इनमें पुंकेसर भी बाहर लटकते हैं।

प्रकृति बनाम प्रयोगशाला

प्रयोगविधि के पहले एक बात जान लेनी चाहिए कि जीव-विज्ञान के अध्ययन के दौरान किसी भी घटना को पूरी तरह उसकी वास्तविक और प्राकृतिक स्थितियों में देखा-समझा जाए तब इसे 'इन विवो' स्थिति कहते हैं, जबकि प्रयोगशाला में कृत्रिम रूप से इसे करके देखने की विधि को 'इन विट्रो' स्थिति कहते हैं।

पराग अंकुरण की प्रयोगशाला विधि में केवल पानी और शक्कर की आवश्यकता होती है जबकि प्राकृतिक स्थिति में अध्ययन के लिए साधारण रसायनों की ज़रूरत पड़ती है।

ऐसे करें प्रयोग

इस घास में प्राकृतिक स्थिति में संपन्न पराग अंकुरण को देखने की विधि इस प्रकार है। सबसे पहले एक

सूक्ष्मदर्शी, पोटेशियम हाइड्रॉक्साइड का 4 प्रतिशत घोल (कास्टिक पोटाश), लेक्टिक अम्ल का सांद्र घोल, कॉटन ब्लू (कवकों को रंगने वाला रंजक जो स्नातकोत्तर प्रयोगशाला में मिल जाता है), स्लाइड, स्प्रिट लेम्प या मोमबत्ती आदि को इकट्ठा करना होगा। ये सब सामग्री जुटाने के बाद इस तरह से आगे बढ़ना होगा।

चित्र देखकर या किसी अनुभवी से पूछकर डाइकेन्थियम घास का पौधा खोजकर इसकी बाली वाला हिस्सा तोड़ लेते हैं। इस पौधे के फूलों के पुष्पक्रम में रोमयुक्त (फेदरी) स्टिग्मा हल्के चमकदार व बैंगनी रंग के होते हैं जो बाहर झांकते दिखाई देते हैं। इस पौधे को तोड़कर लाने के लिए दोपहर का समय अच्छा होता है क्योंकि आमतौर पर इसी समय इसके पुंकेसर फटते हैं जिनसे पराग कण निकलकर स्टिग्मा पर धूल के समान पदार्थ के रूप में चिपके दिखाई देते हैं।

फिर, इस बाली (पुष्पक्रम) से स्टिग्मा निकालकर या बाली सहित सभी स्टिग्मा को कास्टिक पोटाश के घोल में डालकर तब तक गर्म करते हैं जब तक कि परखनली के विलयन का रंग हल्का पीला न हो जाए। इसके बाद इस बाली को लेक्टिक अम्ल में डालकर साफ करते हैं। यह अम्ल इसके उतकों को साफ करता है।

तत्पश्चात, स्लाइड पर स्टिग्मा वाले भागों को रखकर इन्हें कॉटन ब्लू नामक रंजक से रंग देते है। यह रंजक यदि लेक्टोफिनोल में बना हो तो बेहतर होगा। इस रंजक का सामान्यत: कवकों (फंजाई) को रंगने में उपयोग करते हैं। यह रंजक काइटिन को नीला रंग देता है। इस प्रयोग में इसका उपयोग इसलिए करते हैं क्योंकि पराग नलिका की भित्ती यानी दीवार भी काइटिन की बनी होती है, जो स्टिग्मा को भेदकर धंसने में सहायक होती है।

रंगने के बाद इन स्टिग्मा का ग्लिसरीन डालकर, कवरस्लिप रखकर स्लाइड बना लेते हैं तथा सूक्ष्मदर्शी में रखकर देखते हैं। इस स्लाइड में चित्रानुसार पंखनुमा (फेदरी) स्टिग्मा तथा इन पर पड़े पराग कण दिखते हैं। इन पराग कणों से निकली हल्के नीले रंग से रंगी पराग नलिका स्टिग्मा में से होकर जाती हुई दिखाई देती है। यदि स्लाइड सावधानी से बनाई गई है और इस घास का जो पौधा आपने चुना है उसमें पर्याप्त परागण हुआ हो तो पराग नलिका में नर केन्द्रक भी देखे जा सकते हैं।

कमलकिशोर कुंभकार: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध। उज्जैन में रहते हैं।

संदर्भ मराठी और गुजराती में

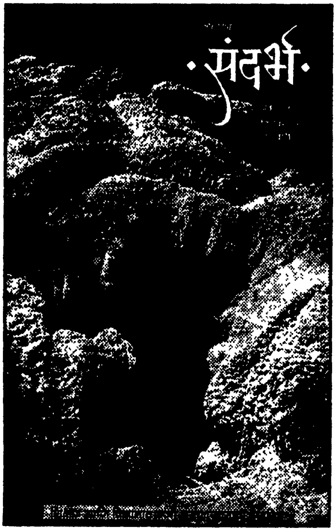

मराठी संदर्भ की सदस्यता दरें इस प्रकार हैं

एक प्रतिः 20 रुपए

वार्षिक सदस्यता शुल्कः 125 रुपए

गुजराती संदर्भ का नमूना अंक प्रकाशित हो चुका है।

वार्षिक सदस्यता शुल्कः 150 रुपए

सदस्यता शुल्क बैंक ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेज सकते हैं।

अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें।

नचिकेता ट्रस्ट
21 महालक्ष्मी सोसायटी
धरमपुर, ज़िला वलसाड
गुजरात 396050

संदर्भ, द्वारा पालकनीती
अमृता क्लिनिक, संभाजी पुल कोपरा
कर्वे रोड़, पुणे, पिनः 411004
फोनः 5441230

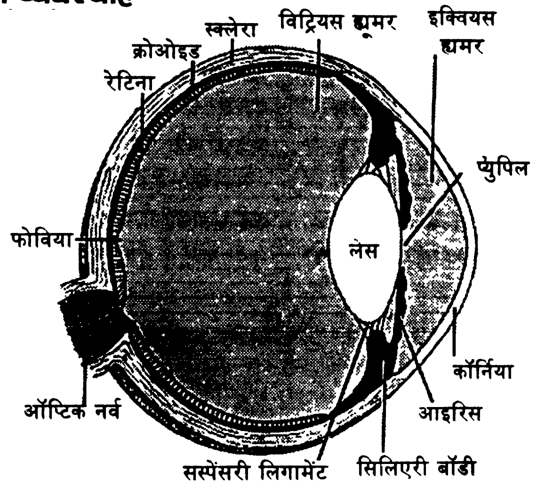

हमारी आंखें

जे. बी. एस. हाल्डेन

कोई संवेदी अंग कैसे काम करता है, इसका कुछ अंदाज़ हम आंख को देखकर लगा सकते हैं। शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा हम आंखों के बारे में कहीं ज़्यादा जानते हैं क्योंकि यही एकमात्र अंग है जिसका अध्ययन काफी हद तक बगैर चीरफाड़ के किया जा सकता है।

तुलना आंख-कैमरे की

जहां तक इसकी प्रकाश व्यवस्था का सवाल है, यह लगभग किसी कैमरे के समान होती है। सामने की ओर एक उभरी हुई पारदर्शी खिड़की होती है जिसे कॉर्निया कहते हैं। प्रकाश को फोकस करने का अधिकतर काम कॉर्निया ही करता है। मगर दूरी के हिसाब से तालमेल बनाने का काम एक लैंस करता है जो तारे (प्युपिल) के पीछे स्थित होता है। आंख की सफेद पृष्ठभूमि में जो काला, नीला या भूरा गोला है उसे पुतली कहते हैं और इस पुतली के बीच एक काला छल्ला तारा यानी प्युपिल कहलाता है।

मनुष्य व अन्य स्तनधारी प्राणी लैंस को दबाकर फोकसिंग करते हैं। यही स्थिति पक्षियों तथा अधिकांश सरिसृपों यानी रेप्टाइल्स (सांप, छिपकली वगैरह) में भी होती है। इन जंतुओं में लेंस लचीले पदार्थ से बना होता है। मगर मछलियों में फोकसिंग की क्रिया लेंस को आगे-पीछे करके की जाती है। यह जानना रोचक होगा कि क्या प्रथम कैमरा बनाने वाले ने पहले मछली की आंख का अध्ययन किया था।

मगर कैमरे और आंख के बीच कई महत्वपूर्ण फर्क भी हैं। एक महत्वपूर्ण फर्क यह है कि जहां कैमरे में संवेदी

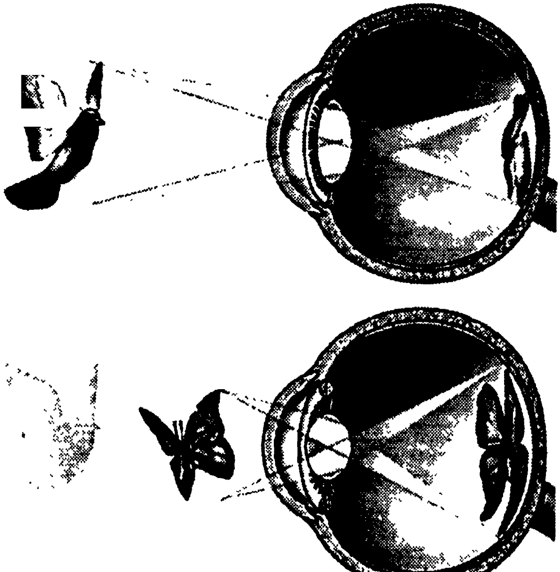

दूर या पास: जब आंख किसी दूर की या पास की वस्तु को देखती है तो वह लेंस की मोटाई में दूरी के हिसाब से एडजस्टमेंट करती है ताकि रेटिना पर स्पष्ट तस्वीर उभर सके। जैसे **पहले चित्र** में आंख काफी दूर स्थित पक्षी को देख रही है। यहां पर लेंस को थामे रखने वाली पेशियां लेंस को थोड़ा खींचकर चपटा बना देती हैं। **दूसरे चित्र** में आंख एक पास मौजूद तितली को देख रही है। इस स्थिति में इन्हीं पेशियों की वजह से लेंस का चपटापन कम हो जाता है, और वह ज़्यादा गोलाई ले लेता है। दोनों ही स्थितियों में रेटीना पर उल्टा बिम्ब (ऊपर वाला भाग नीचे की ओर) बनता है लेकिन इस तस्वीर के बारे में दिमाग को भेजे संदेशों से दिमाग सही तस्वीर को समझ लेता है।

फिल्म (पर्दा) सपाट होता है, वहीं आंख का पर्दा (रेटिना) अवतल होता है। दूसरा अंतर यह है कि एक अकेली आंख से भी जितने बड़े दायरे की चीज़ें देखी जा सकती हैं, वह अधिकांश कैमरों से कहीं बड़ा होता है।

यदि मात्र एक प्रकाश यंत्र की तरह देखें तो एक अच्छे कैमरे की अपेक्षा आंख में कई कमियां होती हैं। मगर आंख में दो ज़बर्दस्त कौशल भी हैं। पहला तो यह कि आंख छोटी-मोटी चोट की मरम्मत स्वयं कर लेती है। दूसरी बात यह है कि इसकी संवेदी फिल्म ज़रूरी होने पर पूरी एक सदी या उससे भी ज़्यादा समय तक काम दे सकती है और प्रकाश की अलग-अलग तीव्रता के साथ ताल-मेल बैठा सकती है। इसका एक कारण तो बहुत सीधा-सादा है। मनुष्य प्रकाश (ऑप्टिक्स) के बारे में हज़ारों सालों से थोड़ा-बहुत जानता है, और पिछले करीब 300 वर्षों से काफी कुछ। रसायन-शास्त्र को एक तार्किक आधार लगभग 200 वर्ष पूर्व डाल्टन ने प्रदान किया था। फोटोग्राफी का रसायनशास्त्र हम अभी समझने ही लगे हैं।* हो सकता है कि आज से सौ साल बाद हम एक ही फोटोग्राफिक प्लेट का उपयोग बार-बार कर सकेंगे। और शायद हम गैस बत्ती और तारों की रोशनी में भी फोटो खींच सकेंगे। हमारी आंख में रेटिना का उपयोग इसी तरह होता है।

आंखों की भीतरी बनावट

प्रत्येक रेटिना लाखों संवेदी कोशिकाओं से बना होता है और प्रत्येक संवेदी कोशिका के साथ एक-एक तंत्रिका कोशिका जुड़ी होती है। संवेदी कोशिकाएं दो प्रकार की होती हैं – शंकु (कोन्स) जो हमारे जाने-पहचाने रंगीन दृश्य देखने का काम करते हैं, और छड़ (रॉड्स) जो लगभग अंधकार की स्थिति में रंगहीन (काला-सफेद) नज़ारा दिखाती हैं। रेटिना के एक वर्ग मिलीमीटर क्षेत्र में करीब 10 हज़ार शंकु कोशिकाएं होती हैं। इसी से तय होता है कि हम छोटी-से-छोटी, कितनी छोटी वस्तु को देख सकेंगे। यदि दो बिन्दुओं से आने वाला प्रकाश एक ही शंकु कोशिका पर गिरे तो हमारी आंख उन्हें अलग-अलग नहीं देख सकती, फिर फोकस चाहे जितना अच्छा हो।

अब यदि हम आंख का मॉडल बनाएं, तो हमारा प्रकाश संवेदी पर्दा हज़ारों प्रकाश विद्युत सेल से बनेगा। जिस-जिस सेल पर प्रकाश पड़ेगा उससे जुड़े तार में विद्युत धारा प्रवाहित होगी। इस तरह से हम पूरे-के-पूरे चित्र (विद्युत के माध्यम से) दूर-दूर

** यह लेख 1949 में लिखा गया था।*

तक भेज सकते हैं – हालांकि यह यंत्र काफी लम्बा चौड़ा होगा। किन्तु हमारा प्रकाश संवेदी अंग इस तरह काम नहीं करता। प्रत्येक हिस्से की गतिविधि सिर्फ इस बात से तय नहीं होती कि इस वक्त उस पर कितनी व कैसी रोशनी पड़ रही है, बल्कि इस बात से भी तय होती है कि पिछले क्षण (यानी अतीत में) क्या स्थिति थी और उसके पड़ोसियों की क्या स्थिति है, वे क्या कर रहे हैं।

सीमाएं और खूबियां

यह व्यवहार संवेदी अंगों का सामान्य व्यवहार है। हम सभी जानते हैं कि यदि हम कुछ देर तक अपना दायां हाथ गर्म पानी में और बायां हाथ ठण्डे पानी में रखें और फिर दोनों को गुनगुने पानी में रखें, तो यह गुनगुना पानी दाएं हाथ को ठण्डा और बाएं हाथ को गर्म महसूस होगा। यह प्रयोग हम आंखों के साथ नहीं कर सकते क्योंकि रेटिना के विभिन्न हिस्से एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। मगर हम दो व्यक्तियों पर एक साथ यह प्रयोग कर सकते हैं – एक व्यक्ति किसी अंधेरी जगह में हो और दूसरा चमचमाती धूप में। दोनों को एक मद्धिम रोशनी वाले कमरे में ले जाएं तो अंधेरे से आए व्यक्ति को सब कुछ तुरन्त स्पष्ट दिखने लगेगा जबकि धूप से आए व्यक्ति को कुछ नज़र ही नहीं आएगा।

रेटिना के अलग-अलग हिस्से एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। कागज़ का एक भूरा टुकड़ा यदि काले कागज़ पर रखा जाए तो लगभग सफेद नज़र आता है, जबकि सफेद कागज़ पर रखा जाए तो लगभग काला दिखता है। इसी प्रकार से नीली पृष्ठभूमि में रखा जाने पर सफेद कागज़ थोड़ा पीला-सा दिखता है जबकि पीली पृष्ठभूमि में रखा जाए तो नीला-सा नज़र आता है। सावधानीपूर्वक किए गए प्रयोगों से पता चलता है कि इस तरह के विपरीत असर पैदा करने वाली प्रक्रियाएं मस्तिष्क में नहीं बल्कि रेटिना में ही होती हैं। यह संभव है कि आंख में एक इलेक्ट्रोड लगाकर रेटिना को प्रकाशित किया जाए और देखा जाए कि कितना विद्युत विभव उत्पन्न होता है। उक्त प्रयोगों में इसी तरीके का उपयोग किया जाता है।

दरअसल हमारे संवेदी अंग रोज़मर्रा के कामकाज के लिए अनुकूलित हैं, ये वैज्ञानिक अवलोकनों के लिए नहीं हैं। आंखें रंगों में फर्क (hue) और तीव्रता में अंतरों को इस ढंग से उभारती हैं कि हम चीज़ों को उनकी पृष्ठभूमि से अलग करके देख पाते हैं। जितने तंत्रिका तंतु उपलब्ध हैं, उसके अनुसार प्रति सेकण्ड एक सीमित संख्या में ही तंत्रिका संकेत भेजे जा सकते हैं। प्रकाश की तीव्रताओं में अंतर कर पाना ज़्यादा उपयोगी है,

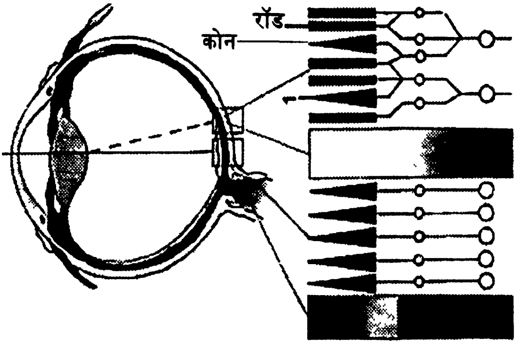

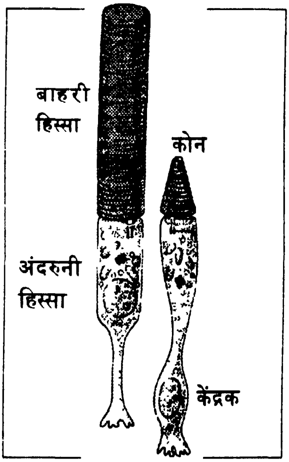

रॉड एवं कोन: रेटिना पर बड़ी संख्या में रॉड एवं कोन संरचनाएं होती हैं। ये कोन या रॉड उन पर पड़ने वाले प्रकाश कणों (फोटॉन) को तंत्रिका आवेग में बदलकर दिमाग की ओर भेजते हैं। रॉड एवं कोन की अपनी विशेषताएं हैं और खास किस्म के काम भी हैं। कोन तीव्र रोशनी और रंगों के प्रति ज़्यादा संवेदनशील होते हैं। रंगों में भी वर्णक्रम के पीले और हरे वाले हिस्सों के प्रति। मंद प्रकाश वाली स्थिति होने पर कोन प्रकाश के प्रति पहले जैसे संवेदनशील नहीं रहते। रॉड मंद प्रकाश के प्रति ज़्यादा संवेदनशील होते हैं। वैसे रॉड सफेद या धूसर प्रकाश में अपने काम को बेहतर अंजाम देते हैं। बाएं चित्र में रॉड एवं कोन को थोड़ा बड़ा करके दिखाया गया है ताकि उनकी संरचना को समझा जा सके।

बजाए तीव्रताओं का सही मापन कर पाने के। तीव्रताओं को नापना तो शायद तब उपयोगी हो जब हम ऐसे कमरे में रहें जहां एक-सा प्रकाश हो और छायाएं हों ही नहीं।

हमारे अन्य संवेदी अंग भी लगभग इसी तरह काम करते हैं। यदि हम किसी साउण्ड प्रूफ कमरे में आधे घण्टे बैठे रहें, तो हमें अपने दिल की धड़कन भी साफ सुनाई देने लगेगी। इसी प्रकार से हम तेज़-से-तेज़ गंध के भी आदी हो जाते हैं, अन्यथा नालियां साफ करने वाले तो पागल हो जाएं। कहने का मतलब यह है कि संवेदी अंग हमें पदार्थों के बारे में अपने सापेक्ष सूचनाएं देते हैं, मात्र पदार्थों के बारे

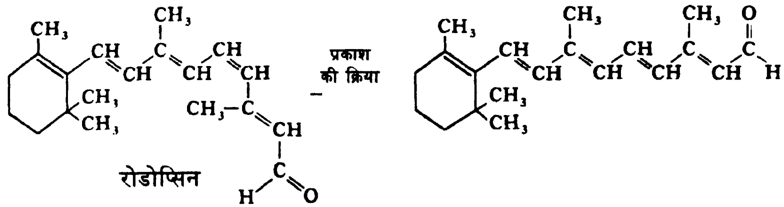

प्रकाश संवेदी पदार्थ: यूं तो रॉड और कोन दोनों में ही प्रकाश संवेदी पदार्थ पाए जाते हैं। रॉड में आमतौर पर रोडोप्सिन पाया जाता है। जब भी रोडोप्सिन पर प्रकाश टकराता है तो यह थोडे फर्क आइसोमर यानी समअवयवी में तब्दील हो जाता है। इस परिवर्तन के कारण दिमाग की ओर कोशिका एक विद्युत संकेत भेजती है। इसी तरह कोन में अलग-अलग किस्म के प्रकाश संवेदी पदार्थ पाए जाते हैं।

में नहीं। इसीलिए विश्व का वैज्ञानिक विवरण कई बार इतना अजनबी लगता है। पानी के तापमान के बारे में एक थर्मामीटर इतनी सटीक जानकारी इसलिए देता है क्योंकि वह स्वयं अपने अतीत से प्रभावित नहीं होता, और न ही अन्य तापमापियों से। इसका मतलब यह नहीं है कि हम अपनी संवेदनाओं पर भरोसा न करें। हमारे पास इस दुनिया के बारे में जानने का और कोई तरीका भी तो नहीं है। कहने का मतलब सिर्फ इतना है कि हमारे संवेदी अंग मशीनें नहीं हैं, दरअसल कई मामलों में वे मशीन से बेहतर हैं और कुछ अन्य मामलों में बदतर।

इसका मतलब यह भी है कि किसी भी काम में प्रत्येक संवेदी अंग का उपयोग कुछ स्थितियों में ही किया जा सकता है। अलग-अलग कामों के लिए अलग-अलग मात्रा में प्रकाश की ज़रूरत होती है। रात में उड़ने वाले किसी लड़ाकू पायलट के लिए ज़रूरी होगा कि वह अंधेरे के लिए अनुकूलित होकर उड़ान भरे। इसीलिए उड़ान से पहले उसे काला चश्मा पहनना होता है। दूसरी ओर किसी कंपोज़िटर के लिए तेज़ रोशनी ज़रूरी है।

अपने संवेदी अंगों की क्रियाविधि (फिज़ियॉलॉजी) की बेहतर समझ होने से हमें इस दुनिया को बेहतर समझने में तो मदद मिलेगी ही, थकान व दुर्घटनाओं से भी बचा जा सकेगा।

जे. बी. एस. हाल्डेन: (1892-1964) प्रसिद्ध अनुवांशिकी विज्ञानी। विकास (Evolution) के सिद्धांत को स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान। विख्यात विज्ञान लेखक। उनके निबंधों का एक संकलन 'ऑन बीइंग द राइट साइज़' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत निबंध 'वॉट इज़ लाइफ' नामक संकलन से लिया गया है। यह संकलन सन् 1949 में प्रकाशित किया गया था।

अनुवाद: सुशील जोशी: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम और स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान लेखन एवं अनुवाद भी करते हैं।

अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित भूमि-कर व्यवस्थाएं

गौतम पांडेय

ज़मींदारी, रैयतवारी व महलवारी व्यवस्थाएं काफी जाने-पहचाने शब्द हैं हमारे लिए। ये भूमि-कर निर्धारण की अलग-अलग व्यवस्थाएँ थीं जो अंग्रेज़ों द्वारा भारत में अपने साम्राज्य निर्माण की दिशा में उठाए गए सबसे महत्वपूर्ण व शुरुआती कदम थे। मगर ये व्यवस्थाएँ केवल भूमि-कर निर्धारण या संग्रहण से संबंधित ही नहीं थीं, इन व्यवस्थाओं ने भविष्य में, भारत में, अंग्रेज़ी साम्राज्य की न केवल रूप रेखा तय की थी बल्कि उसे स्थायित्व प्रदान करने में भी मदद की थी।

भारतीय इतिहास के किसी भी विद्यार्थी के लिए इन व्यवस्थाओं की समझ बनाना निहायत ही आवश्यक होता है– क्योंकि इन

व्यवस्थाओं के निर्धारण के बाद से ले कर आज तक के भारतीय आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक इतिहास पर इन व्यवस्थाओं का सीधा प्रभाव देखा जा सकता है।

आमतौर पर स्कूली पाठ्यपुस्तकों में इस मुद्दे को भी अन्य दूसरे मुद्दों की तरह काफी शार्ट कट में निपटा दिया जाता है – विद्यार्थियों में इसकी समझ बनाने की कोई कोशिश नहीं की जाती। कारण व संबंध स्थापित करने की ऐसी किसी प्रक्रिया के अभाव के कारण ही शायद विद्यार्थी इतिहास को इतना बोरियत भरा मानने लग जाते हैं।

प्रस्तुत लेख, अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित भूमि-कर निर्धारण की विभिन्न व्यवस्थाओं का न केवल विस्तार से वर्णन करता है बल्कि उन कारणों व ज़रुरतों को भी परखने की कोशिश करता है जिनकी वज़ह से अंग्रेज़ साहबों ने इन व्यवस्थाओं का निर्माण किया था। इसके अतिरिक्त इन व्यवस्थाओं का तत्कालीन और भविष्य के भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा – उन्हें भी जांचने की कोशिश की गई है।

यह हम सभी जानते हैं कि भारत में अंग्रेज़ दूसरे यूरोपीय देशों के लोगों की तरह व्यापार करने आए थे। उनका उद्देश्य भारत के स्थानीय व निर्यात व्यापार पर एकाधिकार स्थापित कर अधिक-से-अधिक लाभ कमाना था। उस वक्त इस काम में उन्हें अन्य यूरोपीय देशों (पुर्तगाल, हॉलैंड, फ्रांस) के व्यापारियों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती थी। इस प्रतिस्पर्धा को एकाधिकार में बदलने की प्रक्रिया में इन व्यापारियों (ईस्ट इंडिया कंपनियों) ने स्थानीय शासकों से संबंध बढ़ाना शुरू किया जिससे कि उन्हें उनके क्षेत्रों में व्यापार पर करों में छूट तथा कुछ हद तक एकाधिकार मिल सके। इस संबंध बनाने की प्रक्रिया में इन कंपनियों ने स्थानीय शासकों की न केवल आर्थिक मदद की बल्कि उनको समय-समय पर सैनिक सहायता भी प्रदान की। आपसी प्रतिस्पर्धा की इस प्रक्रिया में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने दूसरे देशों की कंपनियों को काफी पीछे छोड़ दिया। साथ ही स्थानीय शासकों के साथ काम करते हुए ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने उनकी कमज़ोरियों को भी अच्छी तरह भांप लिया तथा उसका भरपूर

फायदा अपनी व्यापारिक गतिविधियों के लिए उठाया। मगर कई बार स्थानीय शासक इतने कमज़ोर नहीं होते थे कि अंग्रेज़ उन्हें आसानी से अपने काबू में ले सकें। तो ऐसी स्थिति में ये कंपनियां उनसे युद्ध पर उतर आती थीं।

ऐसी ही स्थिति सन 1757 में बंगाल में आई जब वहां के नवाब सिराजुद्दौला ने अंग्रेज़ों की इच्छाओं के आगे झुकने से इंकार कर दिया। मगर इसके परिणामस्वरूप जो युद्ध पलासी में हुआ उसमें वह बुरी तरह हार गया और बंगाल पर अंग्रेज़ों का दबदबा पूरी तरह से कायम हो गया। मगर उन्होंने पूरे बंगाल को अपने कब्ज़े में नहीं लिया, उनका उद्देश्य तो व्यापार करना था। इसके पश्चात सन् 1764 में बक्सर की लड़ाई हुई जिसमें अंग्रेज़ों ने बंगाल के नवाब मीर कासिम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला व मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय की मिली-जुली सेना को पराजित किया। अपनी इस विजय के पश्चात अन्य फायदों के अतिरिक्त अंग्रेज़ों ने मुगल बादशाह से बंगाल, बिहार व उड़ीसा की दीवानी अर्थात भूमि-कर वसूलने का अधिकार हासिल कर लिया। पर उस वक्त भी उन्होंने उस क्षेत्र की सामान्य शासन -व्यवस्था अपने हाथों में नहीं ली। वह तो अभी भी बंगाल के कठपुतली नवाब मीर जाफर की ज़िम्मेदारी थी। लेकिन व्यापार करने आए लोगों को लगान वसूली अपने हाथ में लेने की क्या ज़रुरत थी?

धन भारत से ही जुटाओ

दरअसल भूमि-कर संग्रहण का अधिकार अपने हाथों में लेने का अर्थ था उससे होने वाले मुनाफे से अपनी व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ाना। इससे पहले ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी अपने देश से धन (सोना, चांदी, आदि) लेकर आती थी और भारत से कपड़े, मसाले आदि खरीदकर यूरोपीय बाज़ारों में बेचकर मुनाफा कमाती थी। मगर यह व्यापार एक तरह से एकतरफा था यानी ईस्ट इंडिया कंपनी अपने यहां का कोई उत्पाद भारत में बेच नहीं पाती थी, इसलिए उन्हें भारतीय उत्पाद खरीदने के लिए अपने देश से धन लाना पड़ता था। इस व्यापार के कारण इंग्लैंड से काफी मात्रा में सोना/चांदी भारत को निर्यात होता था। इस वजह से इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी की काफी आलोचना होने लगी और कंपनी पर यह दबाव बनने लगा कि वह व्यापार के मूलधन की व्यवस्था या तो भारत में ही करे या कहीं और से करे।

इसी वक्त कंपनी को भारत में पांव फैलाने का मौका दिखा और उसने ऐसे सभी मौकों का फायदा उठाया जिसमें उसे आर्थिक फायदे हो सकते

थे। ऐसा ही एक मौका उसे पलासी और बक्सर की लड़ाई के बाद मिला था जिसका वर्णन हम ऊपर पढ़ आए हैं। बंगाल, बिहार व उड़ीसा की दीवानी कंपनी के हाथों में आने के बाद उसकी एक बहुत बड़ी समस्या हल हो गई। अब उसे इंग्लैंड के बाज़ार में बेचने के लिए भारतीय माल खरीदने हेतु अपने देश से धन लाने की ज़रूरत नहीं रह गई। इस तरह भारत में ही कमाए पैसे से भारतीय वस्तुएं खरीद कर यूरोपीय बाज़ार में बेचने से उन्हें दोहरा लाभ होने वाला था। इसके अतिरिक्त उसे भारत में होने वाले अपने प्रशासनिक खर्चों तथा अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए लड़े जाने वाले युद्धों के लिए ज़रूरी पैसों की भी चिंता नहीं रही।

लेकिन अब ये सारे खर्च भारतीय किसानों के माथे आ पड़े। ये खर्च कम नहीं थे इसलिए कंपनी के अधिकारियों ने इन खर्चों को पूरा करने के लिए न केवल कर की मात्रा बढ़ाई बल्कि करों के संग्रहण पर भी काफी ध्यान दिया। निश्चित ही अगर अंग्रेज़ों ने भारतीय किसानों पर करों का इतना बड़ा बोझ नहीं लादा होता तो वे भारत में इतना बड़ा साम्राज्य खड़ा नहीं कर सकते थे।

अंग्रेज़ों से पूर्व भारतीय शासक भी लगान को अधिकतम करने के प्रयास में थे। लेकिन वे जानते थे कि अगर उन्हें साल-दर-साल लगान इकट्ठा करते रहना है तो किसानों के हित की रक्षा करनी होगी और खेती को बढ़ावा देना होगा। पर ईस्ट इंडिया कंपनी तो कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाने पर तुली थी।

लगान व्यवस्था का विकास

भारतीय शासक प्राचीन काल से ही किसानों से उनकी उपज का एक हिस्सा भूमि-कर के रूप में लेते रहे थे। कर-संग्रहण का काम या तो शासन के कर्मचारियों द्वारा सीधे तौर पर या फिर ज़मींदार, इज़ारेदार (ठेकेदार) जैसे बिचौलियों द्वारा किया जाता था। इन बिचौलियों को संग्रहित कर का कुछ प्रतिशत कमीशन के रूप में मिलता था।

अंग्रेज़ों ने शुरुआत में स्थानीय तौर पर प्रचलित व्यवस्था को ही चलाए रखा, लेकिन आगे चलकर उन्होंने कर निर्धारण और संग्रहण की अलग-अलग व्यवस्थाएं बनाईं जो भारत के अलग-अलग प्रदेशों की सामाजिक व्यवस्था व शासन की ज़रूरतों के अनुसार तैयार की गई थीं। इनके नाम थे ज़मींदारी (स्थाई), रैयतवारी व महलवारी बंदोबस्त।

ये व्यवस्थाएं वर्षों के प्रयोगों के आधार पर निर्मित हुई थीं। कंपनी के अधिकारियों ने कई वर्षों तक तरह तरह के परीक्षण और निरीक्षण किए, कई गलतियां कीं, फिर उन्हें सुधारा, कृषि की उन्नति पर विचार किया और

सबसे महत्वपूर्ण कि सबसे कम झमेला करके सबसे ज़्यादा भू-राजस्व कैसे वसूला जाए, इसी इरादे से अंग्रेज़ शासक वर्ग ने अनेक तरह की भूमि-व्यवस्थाओं का निर्माण किया। इस बीच कंपनी की भू-राजस्व नीति में भी काफी परिवर्तन होता रहा। शुरू में उनका उद्देश्य मात्र अधिकतम लगान इकट्ठा करना था। आगे चल कर कुछ और महत्वपूर्ण उद्देश्य जुड़ गए – जैसे, भारतीय कृषि को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से जोड़ना और कृषि का बाज़ारीकरण। संक्षेप में इसका इतिहास कुछ इस प्रकार है।

पहला दौर (1764–72)

पलासी के युद्ध के बाद सन् 1759-60 में सबसे पहले अंग्रेज़ों ने चौबीस परगना ज़िले की ज़मींदारी हासिल की थी। इसके पांच वर्ष के अंदर ही कंपनी मुगल सम्राट के फरमान से समूचे बंगाल सूबे की दीवानी के पद पर पहुंच गई।

पहले दौर में अंग्रेज़ों ने लगान वसूली के लिए ठेकेदारी प्रथा को अपनाया। हर क्षेत्र से लगान वसूली करने के अधिकार को नीलाम किया जाता था और जिसने भी सबसे अधिक पैसे जमा करने का वादा किया उसे यह अधिकार दे दिया जाता था। ठेकेदार का प्रयास यह होता था कि वह जल्द-से-जल्द किसानों से ज़्यादा-से-ज़्यादा लगान वसूल करे – चाहे वह जायज़ तरीके से लिया गया हो या नाजायज़ तरीके से। इस वक्त बंगाल में एक तरफ नवाब का शासन था तो दूसरी तरफ भू-राजस्व उगाहने का ज़िम्मा अंग्रेज़ कंपनी के हाथ में था – जैसे दो राजा हों। यह एक भयानक स्थिति थी। इस व्यवस्था का किसानों पर क्या प्रभाव पड़ा इसका वयान प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिम चंद्र चटर्जी ने अपने मशहूर उपन्यास ***आनंदमठ*** में कुछ इस प्रकार किया है–

> *"अंग्रेज़ उन दिनों बंगाल के दीवान थे। वे सरकारी मालगुज़ारी के पैसे तो वसूल कर लेते थे, पर तब तक उन्होंने बंगालवासियों के जान-माल की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी नहीं ली थी। उन दिनों पैसे वसूलने की ज़िम्मेदारी तो अंग्रेज़ों की थी और जान-माल की सुरक्षा का भार ... मीर जाफर पर था। मीर जाफर अफीम की गोली खाता था और पांव फैला कर सोता था। अंग्रेज़ पैसे वसूलते थे और डिस्पैच (रपट) लिखते थे। बंगाली रोता था और कंगाल होता जाता था।"*

इस नीति का परिणाम था किसान की बदहाली जिसने सन् 1769–70 में अकाल का रूप धारण किया।

> *"क्वार-कार्तिक में एक बूंद पानी नहीं बरसा। खेतों में खड़े धान के पौधे एकदम सूख गए। जिन थोड़े से खेतों*

में फसल लगी थी उसे राजा के कर्मचारियों ने सिपाहियों के लिए खरीद लिया। लोगों को खाना नहीं मिल पा रहा था ... पर मोहम्मद रज़ा खां मालगुज़ारी वसूली का मालिक था ... उसने अचानक सौ पर दस रुपए मालगुज़ारी बढ़ा दी। पूरे बंगाल में हाहाकार मच गया। लोगों ने पहले भीख मांगना शुरू किया, बाद में भीख देने वाला भी कोई नहीं रहा। लोगों ने अपने बैल-बछिया बेच दिए। हल-फाल, घर-द्वार बेच दिए और बीजों के लिए रखा धान खा गए, ज़मीनें बेच दीं, फिर अपनी लड़कियां बेचने लगे, फिर अपने लड़के बेचने लगे। बाद में लड़की-लड़कों, स्त्रियों को भी कौन खरीदे? खरीददार कहीं नहीं थे, सभी सिर्फ बेचना चाहते थे। कुछ भी खाने को नहीं रहा तो लोग पेड़ों के पत्ते खाने लगे, घास खाना शुरू किया। जंगली जड़ी-बूटी खाने लगे। कुछ देश छोड़कर परदेश भाग गए। जो भागे वो परदेश में भूख से मरे। जो नहीं भागे वे न खाने लायक चीज़ें खाकर, बिना खाए या बीमार होकर मरने लगे।''

ऐसी हालत में भी भू-राजस्व की वसूली इतनी कठोरता से की गई थी कि 1770 के अकाल वर्ष में, बंगाल के एक तिहाई बाशिंदों की मौत के बावजूद भू-राजस्व की वसूली में कोई कमी नहीं आई।

कुल मिलाकर इस काल में अंग्रेज़ों ने कर संग्रहण की बढ़ोत्तरी में अच्छी सफलता पाई थी। यह बढ़ोत्तरी नीचे की तालिका से स्पष्ट होती है।

वर्ष	संग्रहित कर (रुपयों में)
1764	81,80,000
1771	2,32,00,000

पर मुश्किल यह थी कि नीलामी में बोली बोलकर जो लोग दो-एक साल के लिए ठेके लेते थे वे चट-पट जितना संभव हो उतना लाभ उठाने के लिए बहुत अधिक बढ़ाकर राजस्व की वसूली करते थे। कई बार इसके बावजूद कंपनी को जितनी राशि मिलनी होती थी वह पूरी नहीं हो पाती थी। ज़िलों में पदस्थ रेवेन्यू सुपर-वाइज़र साहब लोग इस बात से एकदम अनभिज्ञ थे कि कहां कितना राजस्व भार बर्दाश्त किया जा सकता है।

दूसरा दौर (1772–86)

1772 से दो-एक साल की ठेकेदारी की जगह, पांच साला बंदोबस्त शुरू हुआ। दरअसल अंग्रेज़ साहबों को यह बात समझ में आने लगी थी कि दो एक सालों के लिए भू-राजस्व जमा करने का ठेका लेने वाले लोगों को किसानों के हित का ध्यान बिल्कुल ही नहीं रहता। उन्हें केवल अपने पैसे

से मतलब रहता था। इस कारण उन्होंने यह विचार किया कि अगर ठेका लंबे समय का होगा तो किसानों की लूट खसोट कुछ कम होगी क्योंकि अगर पहले साल ही किसानों से ज़्यादा वसूल कर लिया जाए तो दूसरे साल वे कुछ भी देने की हालत में नहीं रहेंगे या फिर वे वह गांव छोड़कर भाग जाएंगे।

इसके अतिरिक्त इस काल में पुराने ज़मींदारों के प्रति पक्षपात की भी शुरुआत हुई यानी राजस्व वसूली के ठेके की बोली के दौरान नए लोगों की जगह पुराने ज़मींदारों को वरीयता दी जाने लगी। यह इस समझ के तहत हुआ कि भू-राजस्व के मामलों को नौसिखुए इज़ारेदारों (ठेकेदारों) के मुकाबले, वे कहीं अच्छी तरह से जानते थे। लेकिन नीलामी की प्रथा को बनाए रखा गया, क्योंकि ज़्यादा-से-ज़्यादा कितना भू-राजस्व वसूला जा सकता है, इसका जवाब नीलामी के बाद ही मिलता था। सन् 1777 में पांच साला बन्दोबस्त खत्म होने पर सालाना बन्दोबस्त शुरू हुआ। ज़्यादातर मामलों में पिछले तीन सालों की वसूली के आधार पर ज़मींदारों के साथ इकरार किया गया।

नीति में बार-बार परिवर्तन करने से पता चलता है कि तरह-तरह के परीक्षण और निरीक्षण के बावजूद कंपनी एकदम चाक-चौबंद भू-राजस्व व्यवस्था नहीं बना सकी थी। शुरू से ही उच्च अधिकारियों में आपसी बम-चक मची हुई थी कि बंदोबस्त कितने समय के लिए किया जाए, किनके साथ किया जाए, भू-राजस्व का निर्धारण कैसे हो?

तीसरा दौर (1786–93)

1786 में एक नामी-गिरामी गवर्नर जनरल भारत आए। यह थे लॉर्ड कॉर्नवालिस। वे लन्दन से यह निर्देश लेकर आए थे कि आखिरकार कोई फैसला तो लेना ही होगा। अभी भी बंगाल 1776 के अकाल के धक्के से संभल नहीं पाया था। लोगों की चाहत थी कि अगर भू-राजस्व तय हो जाए तो शायद कोई रास्ता निकाला जा सके। इसके अलावा भू-राजस्व की मात्रा अगर तय कर दी जाए तो भविष्य में उसे बढ़ाने की संभावना भी नहीं रह जाएगी। कंपनी को भी इसकी ज़रूरत थी, क्योंकि इसी भू-राजस्व से प्राप्त धन से वह इस देश में माल खरीदकर इंग्लैंड में बेचती थी और इस तरह प्राप्त होने वाले धन में हर साल होने वाले परिवर्तन से उसकी व्यापारिक गतिविधियों में बाधा आती थी। इसलिए सन् 1789 में कॉर्नवालिस ने ज़मींदारों के साथ एक दस साला बन्दोबस्त किया और इसी बन्दोबस्त को 1793 में 'स्थाई या इस्तमरारी बन्दोबस्त' का नाम दे दिया गया।

ज़मींदारी और स्थाई बंदोबस्त

संक्षेप में 1765 से 1793 के दौरान प्राप्त जानकारी का फल यह था कि कृषि उत्पादन की मात्रा और दाम कितना है, कृषि व्यवस्था को नष्ट किए बिना कितना भू-राजस्व वसूल किया जा सकता है, भू-राजस्व निर्धारण और वसूली में होने वाले खर्च को किस प्रकार कम किया जा सकता है, यह सब कंपनी के साहबों को समझ में नहीं आया था। अंत में जब कंपनी की हालत ठीक नहीं थी तब लॉर्ड कॉर्नवालिस ने फैसला किया "भू-राजस्व की वसूली ज़मींदारों के हाथ हो। वे प्रजा से कितना वसूलें इस बारे में कंपनी को कुछ तय नहीं करना है। जो भूमि-कर कंपनी को मिलना है, वही अगर ज़मींदार दें तो हमें कोई फर्क नहीं पड़ता। और अगर ज़मींदार भू-राजस्व न दे सके तो उसकी ज़मींदारी खत्म करके उसकी जगह नए ज़मींदार को बिठा दिया जाए।" बार-बार भू-राजस्व निर्धारण की ज़िम्मेदारी से बचने के लिए कॉर्नवालिस ने सिफारिश की – "1789-90 में जो देय भू-राजस्व था वह मोटे तौर पर प्रजा द्वारा ज़मींदार को देय राशि का 9/10 भाग था। उसे ही स्थाई रूप से भू-राजस्व मान लिया जाए।" यही था "स्थाई या इस्तमरारी बंदोबस्त"।

इस व्यवस्था के तहत ज़मींदार द्वारा जो राशि शासन को देनी थी वह हमेशा के लिए तय कर दी गई। उसमें भविष्य में बढ़ोत्तरी की कोई संभावना नहीं थी। अगर किसी ज़मींदार को भविष्य में अपनी ज़मींदारी से, चाहे किसी भी कारण से, खेती में सुधार के कारण या सिंचाई की व्यवस्था सुधारने के कारण या फिर उसके ज़्यादा वसूल कर पाने की क्षमता के कारण, ज़्यादा आमदनी होने लगे, तो वो तय राशि का भुगतान करने के बाद शेष अपने पास रख सकता था। शासन उसके सामने और कोई मांग नहीं रख सकता था। लेकिन ज़मींदारों को तय राशि बिल्कुल नियत समय पर चुकाना निहायत ज़रूरी था। अन्यथा उसकी ज़मींदारी के नीलाम होने का खतरा था। शासन को इस बात की कोई परवाह नहीं थी कि फसल ठीक हुई है या नहीं – उसे केवल अपने पैसे से मतलब था।

इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था के तहत शुरुआत में जो भू-राजस्व तय हुआ वो बहुत ही मनमाने ढंग से तय किया गया। कंपनी ने एक बार भी ज़मींदारों से सलाह मशविरा करने की ज़रूरत नहीं समझी। दरअसल, कंपनी के अधिकारियों का मुख्य उद्देश्य कंपनी के लिए अधिक-से-अधिक राशि हासिल करना था। इस कारण भू-राजस्व की दर काफी ऊंची रखी गई। इस व्यवस्था के मुख्य प्रवर्तक जॉन

शोर, जो कॉर्नवालिस के बाद गवर्नर जनरल भी बने, ने अपनी एक गणना के आधार पर बताया था कि अगर बंगाल की कुल उपज को 100 मान लिया जाए तो उसका 45 प्रतिशत सरकार भू-राजस्व के रूप में लेती थी, ज़मींदार व दूसरे बिचौलिए 15 प्रतिशत पर अपना कब्ज़ा जमाते थे तथा केवल 40 प्रतिशत किसानों के पास बचता था।

ज़मींदारों को ज़मीन का स्वामित्व

स्थाई बंदोबस्त के तहत ज़मींदारों को ज़मीन का मालिक मान लिया गया। इसका अर्थ था कि वो अब ज़मीन की खरीद-बिक्री कर सकते थे और किसी भी किसान को उसकी ज़मीन से बेदखल कर सकते थे। लेकिन आगे चलकर अंग्रेज़ों ने यह स्वीकार किया कि 1793 से पहले बंगाल और बिहार में ज़मींदारों को ज़मीन पर मालिकाना हक नहीं था। तो सवाल यह उठता है कि अंग्रेज़ों ने ऐसा किया क्यों?

दरअसल अंग्रेज़ों की यह कोशिश थी कि भारत में भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को आर्थिक विकास का आधार बनाया जाए तथा साथ ही कृषि में पूंजीवाद को बढ़ावा दिया जाए। उस वक्त इंग्लैंड व यूरोप के अन्य देशों में ज़मीन के मालिक बड़े-बड़े सामंती भूस्वामी थे इसलिए अंग्रेज़ अधिकारियों ने भारतीय ज़मींदारों को इंग्लैंड के सामंतों के समकक्ष मान लिया। लेकिन एक महत्वपूर्ण मामले में उन्होंने भिन्नता बनाए रखी। ब्रिटेन का सामंती भूस्वामी अपनी आय का केवल एक छोटा-सा हिस्सा भूमि-कर के रूप में शासन को चुकाता था जबकि बंगाल के ज़मींदार को अपनी कुल आय का 9/10 भाग भू-राजस्व के रूप में चुकाना पड़ता था। इतना ही नहीं, उसे भू-राजस्व समय पर नहीं चुकाने की स्थिति में ज़मींदारी से बेदखल भी किया जा सकता था।

इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ों के इस निर्णय के पीछे कुछ और महत्वपूर्ण कारण थे। पहला कारण था अपने लिए भारतीय समाज में एक स्वामीभक्त समुदाय का निर्माण करना। अंग्रेज़ यह जानते थे कि वे भारत में विदेशी हैं और यहां उनका शासन तब तक स्थाई नहीं हो सकता जब तक स्थानीय लोगों का एक समूह उनके प्रति वफादार न हो। उस वक्त ऐसे लोगों की उन्हें सख्त ज़रूरत भी थी क्योंकि 18वीं शताब्दी के आखिरी वर्षों में बंगाल में अंग्रेज़ों को कई विद्रोह का सामना करना पड़ा था। इसलिए उन्होंने धनी और विशेषाधिकार प्राप्त एक ऐसे ज़मींदार वर्ग का निर्माण किया जो अपना अस्तित्व ब्रिटिश शासन की खुशहाली में ही देखता था। अंग्रेज़ों का यह निर्णय आगे चलकर काफी सफल साबित हुआ क्योंकि स्वतंत्रता

आंदोलन के समय ज़मींदारों का यह पूरा वर्ग आम तौर पर विदेशी शासकों के समर्थन में खड़ा रहा।

दूसरा महत्वपूर्ण कारण था आर्थिक स्थायित्व। कंपनी के लिए भू-राजस्व आमदनी का सबसे प्रमुख स्रोत था। लेकिन 1793 से पहले इस आमदनी में काफी उतार-चढ़ाव होते रहते थे। उदाहरण के लिए रंगपुर की ज़मींदारी से उन्हें 1762 में 11 लाख रुपए मिलते थे। यह रकम 1764 में घट कर केवल 5 लाख रुपए रह गई। लेकिन 1771 में पुनः बढ़ कर 11 लाख पर पहुंच गई जबकि 1786 में यहां से उन्हें कुल 7 लाख रुपए मिल रहे थे। इस तरह के उतार-चढ़ाव से कंपनी काफी परेशान रहती थी। स्थाई बंदोबस्त ने इस उतार-चढ़ाव को न केवल स्थायित्व प्रदान किया बल्कि इस आमदनी को उच्चतम सीमा तक पहुंचा दिया। इसके अतिरिक्त लाखों किसानों से भू-राजस्व सीधे वसूल करने की जगह थोड़े से ज़मींदारों से भू-राजस्व संग्रहित करना काफी आसान व सस्ता भी साबित हुआ।

तीसरा कारण था अंग्रेज़ों का यह विश्वास कि स्थाई बंदोबस्त के तहत करों का परिमाण हमेशा के लिए तय हो जाने के बाद ज़मींदार अपने इलाके में कृषि के विस्तार की कोशिश करेंगे। दरअसल 1770 के दशक में आए अकालों के कारण बंगाल की प्रायः एक तिहाई ज़मीन परती पड़ गई थी। इसलिए उम्मीद की गई थी कि इस बंदोबस्त के बाद दुबारा खेती-बाड़ी बढ़ेगी। दरअसल 18वीं शताब्दी के आखिरी वर्षों तक अंग्रेज़ भारत में लंबे समय तक अधिकार के बारे में सोचने लगे थे इसलिए छोटे-मोटे फायदों की जगह लंबे समय तक होने वाले फायदों के बारे में ज़्यादा ध्यान दे रहे थे। इसके लिए खेती में स्थायित्व लाना और उसे बाज़ारोन्मुखी करना ज़रूरी था। कृषि में होने वाले विकास से उन्हें भी फायदा होने वाला था जैसे कुछ विशेष फसलों, जैसे गेहूं, कपास, आदि को सस्ते में खरीद कर वे इंग्लैंड के कारखानों को भेज सकते थे।

स्थाई बंदोबस्त से संबंधित एक बात और। इस बंदोबस्त के तहत एक कानून बना था जिसका नाम था– 'सूर्यास्त कानून' (Sunset Law)। इस कानून के तहत प्रत्येक ज़मींदार के लिए अपने लिए मुकर्रर भू-राजस्व को नियत तिथि को सूर्यास्त से पहले चुकाना ज़रूरी था। समय पर भुगतान नहीं कर पाने की स्थिति में उसे ज़मींदारी से बेदखल कर दिया जाता था और उसकी ज़मींदारी नीलाम कर दी जाती थी। इस कानून का बहुत सख्ती से पालन किया जाता था। इस कानून से बचने के लिए अधिकांश ज़मींदार ऋण लेकर भू-राजस्व का भुगतान करते थे मगर फिर भी 1793 से 1815 के बीच

करीब 40 प्रतिशत ज़मींदारी एक हाथ से दूसरे हाथ में चली गई।

ज़मींदारी प्रथा पर पुनर्विचार

अब हम दूसरी भूमि-व्यवस्थाओं पर आते हैं। शासक वर्ग की नज़र में स्थाई बंदोबस्त की सबसे बड़ी खामी यह थी कि लगान को कृषि के विकास और उत्पादन में वृद्धि के मद्देनज़र बढ़ाने का कोई उपाय नहीं रहा। साथ ही इस बंदोबस्त का लाभ न तो किसानों को मिला और न ही सरकार को, जबकि ज़मींदार व उसके अधीन अमले व इज़ारेदार (ठेकेदार) सबसे ज़्यादा फायदे में रहे।

इसी परिप्रेक्ष्य में हम यह समझ सकते हैं कि क्यों ज़मींदारी से मोहमुक्त होकर कंपनी किसी दूसरी भूमि-व्यवस्था के बारे में सोचने लगी। इसका उद्देश्य था बिचौलियों को पूरी तरह से बाहर करके रैयत के साथ सीधे तौर पर इकरारनामा, और स्थाई बंदोबस्त के बदले 20 या 30 वर्ष के अन्तर पर भू-राजस्व का फिर से निर्धारण, जिससे कृषि के विस्तार और बाज़ार की वृद्धि के साथ-साथ सरकार इस बढ़ी हुई आय का हिस्सा पा सके।

बंगाल की भूमि-व्यवस्था की कमियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के अलावा भी इस नई विचारधारा के पीछे एक और बात थी – वह थी उपयोगितावादी (Utilitarian) अर्थ नीति और प्रशासन नीति का प्रभाव। इस नीति के प्रवर्तकों में से प्रमुख थे डेविड रिकार्डो और जॉन बेन्थम। यहां हम रिकार्डो के प्रभाव की चर्चा करते हैं क्योंकि जॉन बेन्थम का प्रभाव मूलतः कानूनी और राजनीतिक पक्ष पर पड़ा था।

रिकार्डो 19वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों के अर्थशास्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ था और बाद के क्लासिकी अर्थशास्त्र पर उसका प्रभाव काफी गहरा था। उन दिनों इंग्लैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए एक कॉलेज की स्थापना की गई थी – इसका नाम था हेलबेरी कॉलेज। इस कॉलेज के छात्रों के माध्यम से तथा कुछ दूसरे प्रभावशाली व्यक्तियों (जैसे,जेम्स मिल, एलफिंस्टन, जॉन स्ट्रेची आदि) के माध्यम से रिकार्डो की उपयोगितावादी नीति ने इस देश में अपना प्रभाव फैलाया।

रिकार्डो के अनुसार (उनकी पुस्तक का नाम है 'प्रिन्सिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकॉनामी' जो सन् 1821 में प्रकाशित हुई थी) ज़मींदार खुद उत्पादन के लिए कुछ नहीं करता है। मज़दूर अपना श्रम लगाता है, पूंजीपति अपनी पूंजी लगाता है, उद्यमी उद्योग संगठन में सक्रिय होता है। ज़मींदार ज़मीन के लिए जो किराया पाते हैं, वह सीमित मात्रा में उपलब्ध ज़मीन पर उनके एकाधिकार की वजह से

उन्हें मिलता है। उनके विचार में उत्पादन में भूस्वामियों का कोई सकारात्मक योगदान नहीं होता है इसलिए शासन को उनकी आय पर कर लगाना चाहिए। उचित तो यह होता कि ज़मीन पर उनके मालिकाना अधिकार को समाप्त कर शासन सारी ज़मीन अपने हाथ में ले ले और उसे उद्यमी लोगों को उपलब्ध कराए।

संक्षेप में यही रिकार्डो की राजस्व नीति थी जिसने भारत में अपना प्रभाव दिखाया। इस नीति का ज़मींदार विरोधी रुख स्पष्ट है। बंगाल में स्थाई बंदोबस्त को लेकर सरकारी अमलों के मोहभंग की बात हम जान चुके हैं। अब इन दोनों बातों ने मिलकर रैयतवारी और महलवारी भूमि-व्यवस्था के पक्ष में माहौल तैयार किया।

इस समय तक अंग्रेज़ शासकों के कृषि के क्षेत्र में दो प्रमुख उद्देश्य थे, जो किसी-न-किसी रूप में एक-दूसरे के विपरीत थे। एक तरफ वो चाहते थे कि उद्यमी कृषकों को बढ़ावा मिले ताकि वे उत्पादन बढ़ाएं व ऐसी फसल उगाएं जिसकी बाज़ार में (खासकर इंग्लैंड में) मांग हो। रिकार्डो जैसे नए विचारकों के प्रभाव में यह मान्यता बनी कि औद्योगिक कृषि के लिए ज़मींदार एक अवरोध है। लेकिन कंपनी की दूसरी ज़रूरत यह थी कि भू-राजस्व अधिक-से-अधिक हो ताकि प्रशासन का खर्च निकले, व्यापार का मूलधन निकले और एशिया में कंपनी के राज्य विस्तार के लिए धन मिले। इसके लिए ज़रूरी था कि किसान की दैनिक ज़रूरत और कृषि के खर्चे के बाद जो भी बचे उसे लगान के रूप में वसूल कर लिया जाए। ज़ाहिर है कि ऐसा करने पर कृषि को बढ़ावा देने वाला पहला उद्‌देश्य पूरा करना कठिन था। इस दौर में कंपनी के अधिकारियों का यह प्रयास था कि ज़मींदारी प्रथा को बढ़ावा न देकर सीधे कृषकों से करार किया जाए और लगान की दर ऐसे तय की जाए कि कृषि में उन्नति भी हो और शासन की आय भी अधिकतम हो। समय के साथ अगर कृषि उत्पादन बढ़े तो लगान बढ़ा कर शासकीय आय को भी बढ़ाया जाए। इन्हीं विचारों को लेकर नई लगान पद्धति विकसित की गई जिसे रैयतवारी व महलवारी व्यवस्था का नाम दिया गया।

रैयतवारी तथा महलवारी

रैयतवारी प्रथा अंग्रेज़ी साम्राज्य के दक्षिण तथा पश्चिम भारत में फैलने के साथ जुड़ी है। इस प्रथा के जनक थे टॉमस मुनरो। इन्होंने मद्रास प्रेसीडेंसी में बड़े ही ध्यान से इस प्रथा का निर्माण किया था।

इस व्यवस्था का मूल आधार था रैयत के साथ सीधे करार करना। पर सवाल यह था कि लगान कितना हो? इसका उत्तर आसान नहीं था, क्योंकि

सिद्धांत भले ही सीधा हो पर इस बात का हिसाब करना कि कृषि उपज की मात्रा कितनी है, इस उपज का मूल्य बाज़ार दर से कितना है, कृषि कार्य में किसान का खर्च कितना है, किसान परिवार के श्रम का मूल्य कितना होगा, आदि प्रश्न आसान नहीं थे। पहले, दो प्रश्नों के उत्तर से उत्पादन खर्च निकलेगा। यह खर्च निकालकर जो बचेगा उसका 50 प्रतिशत भू-राजस्व होगा – यही मुनरो की राजस्व नीति थी।

मगर इस तरह के प्रश्नों के उत्तर के लिए जिस तरह के तथ्यों व गणितीय लेखे-जोखे की ज़रूरत थी वह प्राय: समय से नहीं मिल पाते थे, इस कारण 19वीं सदी के आरंभ से 1851 तक कुल आय, 'नेट' आय आदि को लेकर काफी बहस चलती रही। बाद में मुनरो ने भी यह स्वीकार किया कि शुरुआत में भू-राजस्व का निर्धारण बहुत ऊंची दरों (45 से 55 प्रतिशत तक) पर तय हुआ था, क्योंकि फसल और उसके मूल्य के उतार-चढ़ाव के साथ राजस्व का कोई तालमेल नहीं था। लेकिन 1851 में जब 30 वर्षों के लिए नया बंदोबस्त शुरू हुआ तब कुल आय में से खर्चे निकालकर जो बचा, उस 'नेट' आय का 50 प्रतिशत भू-राजस्व निर्धारित किया गया।

बंबई प्रेसीडेंसी में भी मद्रास की तरह रैयत के साथ सीधा इकरारनामा और अस्थाई बंदोबस्त किया गया। परन्तु वहां उसका मूलसूत्र उत्पादन और खर्च का हिसाब नहीं था, बल्कि अलग-अलग ज़मीनों की उत्पादन क्षमता और पुराने बंदोबस्त में राजस्व की दर था। यहां पहले पूरे ज़िले का भू-राजस्व पुराने राजस्व की दर के अनुसार निर्धारित किया जाता था और उसके बाद ज़मीन की उत्पादन क्षमता के अनुसार रैयतों की ज़मीन पर उस राजस्व को विभाजित कर दिया जाता था। ज़्यादातर यह काम ज़िला कलेक्टर के अनुभव और अनुमान पर निर्भर था। मद्रास की तरह बम्बई में भी 30 वर्षों के लिए बंदोबस्त किया गया।

अभी तक की गई दोनों भूमि-व्यवस्थाओं में समूह और संगठन के स्तर पर गांवों के अस्तित्व को नकार दिया गया था। आगे चलकर जब पश्चिमी उत्तर प्रदेश व पंजाब का इलाका अंग्रेज़ों के अधीन आया तो उन्होंने महसूस किया कि वहां ग्रामीण समाज की एकजुटता और प्रशासनिक भूमिका बहुत सजीव थी। इस कारण वहां गांवों को ही राजस्व नियंत्रण (प्रशासन) के काम में लाने का विचार किया गया। साथ ही जिन स्थानों पर कोई ज़मींदार एक बड़े इलाके (महल) का स्वामी था, वहां उसी के साथ इकरारनामा किया गया। गांव अथवा महल पर आधारित भूमि व्यवस्था के साथ रैयतवारी बंदोबस्त की कुछ

नीतियों को मिलाकर तैयार हुई इस व्यवस्था के प्रणेता थे – होल्ट मैकेंज़ी।

इस व्यवस्था में भी उद्देश्य था कृषि कार्य का खर्च निकाल कर उत्पादन के 'नेट' मूल्य का दो-तिहाई भाग भू-राजस्व के रूप में लेना। मगर यह कुछ ज़्यादा था, इसलिए सन् 1855 में इसे 'नेट' मूल्य का आधा कर दिया गया। पर दूसरे प्रदेशों की तरह यहां भी 'नेट' उत्पादन के आधार पर भू-राजस्व तय करना इतना मुश्किल था कि अंततः दरों के एक अंदाज़िया हिसाब पर ही राजस्व का निर्धारण होता था – ज़मीन का पुराना राजस्व क्या था, कृषि उत्पादों के दाम बढ़े या घटे और आसपास के इलाकों में भू-राजस्व की दर क्या है – इन्हीं बातों पर यह अनुमान निर्भर करता था।

इस महलवारी व्यवस्था को थोड़ा अदल-बदल कर पंजाब और मध्य प्रदेश में लागू किया गया। उदाहरण के लिए पंजाब में ग्रामीण समाज की कड़ियां बहुत मज़बूत थीं और मध्य प्रदेश में मालगुज़ार वर्ग के लोग छोटे-मोटे ज़मींदार थे – इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर थोड़ा फेरबदल किया गया।

सारे भारत में इन तीनों प्रकार की भूमि व्यवस्थाओं का प्रसार कैसा रहा, इसका जायज़ा 1928-29 में मिला – कुल खेती योग्य ज़मीन का 19 प्रतिशत स्थाई बंदोबस्त के अंतर्गत था, 29 प्रतिशत महलवारी बंदोबस्त के अंतर्गत तथा 52 प्रतिशत रैयतवारी बंदोबस्त के अंतर्गत था।

***

आइए, अब हम इन तीनों व्यवस्थाओं की आपस में तुलना करने की कोशिश करते हैं।

हमने देखा है कि ज़मींदारी व्यवस्था में ज़मींदारों को ज़मीन का मालिक मान लिया गया था और उन्हें यह अधिकार दिया गया था कि वो अपनी ज़मींदारी के अन्तर्गत पड़ने वाले खेतों में जिससे भी चाहे खेती करवा सकते हैं। शासन ने उनके लिए भू-राजस्व की एक निश्चित राशि तय कर रखी थी जो उन्हें नियत तिथि तक अदा करनी होती थी। इस राशि में भविष्य में कभी भी कोई बढ़ोत्तरी नहीं होनी थी। साथ ही अगर ज़मींदार अपनी कोशिशों से अपनी आमदनी बढ़ा पाता हो तो उस पर शासन का कोई दावा नहीं था।

जबकि रैयतवारी व्यवस्था में वास्तविक कृषकों को ही ज़मीन का मालिक बना रहने दिया गया। उनके लिए जो राशि तय की गई थी वह उनके कुल उत्पादन में से उत्पादन का खर्च काट कर जो बचता था उस पर निर्धारित की गई थी। कुछ जगहों पर जैसे बम्बई प्रेसीडेंसी में ज़मीन की गुणवत्ता को भी ध्यान में रखा गया

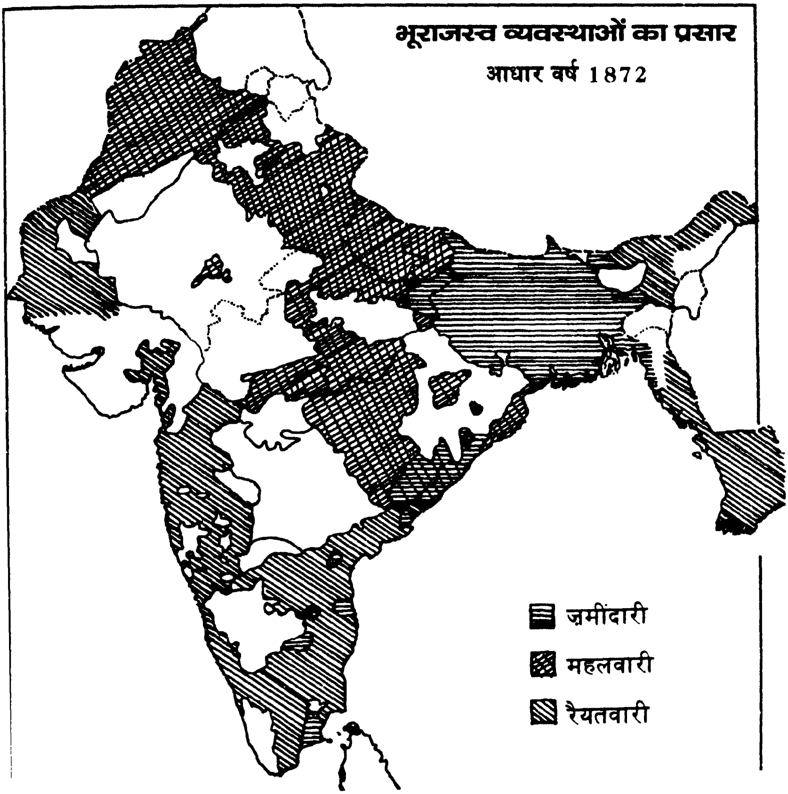

इस नक्शे में कुछ ऐसे इलाके भी दिखाई दे रहे हैं जहां तीनों में से किसी भी व्यवस्था के संकेत (Symbol) नहीं भरे गए हैं। सोचिए और मालूम करने की कोशिश कीजिए कि उन इलाकों में किस तरह की लगान व्यवस्था चल रही थी?

था। लेकिन इस व्यवस्था में कर निर्धारण केवल 20 या 30 वर्षों के लिए किया जाता था। अर्थात अगर किसी किसान ने अपनी मेहनत से अपने उत्पादन को बढ़ाया तो अगले निर्धारण में उसके लिए नियत भू-राजस्व को बढ़ाया जा सकता था। इसका असर यह हुआ कि किसानों ने खेती में सुधार की कोशिशें कम कर दीं – क्योंकि उन्हें मालूम था कि अगर उनका उत्पादन बढ़ा तो अगले निर्धारण में शासन उनसे ज़्यादा कर मांगेगा।

मध्य प्रदेश में....

आइए, अब मध्य प्रदेश में भूमि-कर व्यवस्था का क्या स्वरूप था इसे देखें। मध्य प्रदेश का सागर और नर्मदा का इलाका (यह नाम अंग्रेज़ों ने शुरुआत में मध्य प्रदेश के अपने कब्ज़े वाले इलाके को दिया था) अंग्रेज़ों के हाथ सन् 1818 में आया था। इससे पहले यहां मराठों का शासन था। मराठों ने इस इलाके में लगान वसूली की ज़िम्मेदारी गांव प्रधानों, साहुकारों, व्यापारियों व स्थानीय कर्मचारियों को दे रखी थी। इन्हें अस्थाई मालगुज़ार की पदवी दी गई थी।

अंग्रेज़ों ने शुरुआत में इस व्यवस्था को ही चलाए रखा। लेकिन उन्होंने लगान की दर तीन गुना बढ़ा दी और मालगुज़ारों को 15 प्रतिशत कमीशन भी देना शुरू किया। इस काल में लगान का बन्दोबस्त प्रत्येक वर्ष होता था। सन् 1834 में पहली बार अंग्रेज़ों ने यहां 20 वर्ष का बन्दोबस्त किया।

इस इलाके की खास बात यह थी कि इस क्षेत्र में परंपरागत रूप से ज़मींदार नहीं होते थे, साथ ही यहां जनसंख्या काफी कम थी जबकि कृषि योग्य भूमि काफी अधिक। इस कारण यहां अंग्रेज़ों ने परंपरागत रूप से लगान वसूल करने वाले वर्ग मालगुज़ारों को मध्य में रख कर अपनी व्यवस्था का निर्माण किया।

सन् 1834 की व्यवस्था के अन्तर्गत मालगुज़ारों को वसूल किए गए भू-राजस्व का एक तिहाई कमीशन के रूप में दिया गया लेकिन उन्हें किसानों द्वारा दिए जाने वाले लगान को बढ़ाने पर पाबंदी लगा दी गई। दरअसल ऐसा देखा गया था कि 1834 से पहले मालगुज़ारों पर भू-राजस्व की बढ़ी हुई दर का बोझ इतना ज़्यादा था कि करीब आधे मालगुज़ारों की सारी संपत्ति साहुकारों के हाथ गिरवी थी। इसके अतिरिक्त किसानों से लूट-खसोट भी काफी बढ़ गई थी जिसके कारण वे अपना क्षेत्र छोड़ कर भाग रहे थे।

सन् 1854 में जब इस क्षेत्र में दुबारा कर -निर्धारण हुआ तो मालगुज़ारों को ज़मीन पर मालिकाना हक दे दिया गया। इस क्षेत्र की खास बात यह थी कि जनसंख्या की कमी और कृषि योग्य भूमि की अधिकता के कारण मालगुज़ार स्वयं बड़े काश्तकार हुआ करते थे, साथ ही कई इलाके में वे किसानों के लिए साहुकारों का काम भी किया करते थे।

यह स्थिति ज़मींदारी व्यवस्था से काफी फ़र्क थी जहां ज़मींदारों को यह अधिकार था कि खेती में हुए सुधारों या खेती के फैलाव के कारण उनकी आमदनी में जो इज़ाफा होगा उसे वो अपने पास रख सकते थे।

महलवारी व्यवस्था में भूमि कर का निर्धारण गांवों या बड़े परिवारों (महल) के साथ किया गया था। यहां भी निर्धारण केवल 20 या 30 वर्षों के लिए किया जाता था। इसलिए रैयतवारी व्यवस्था में जो स्थिति थी वही स्थिति कमोबेश यहां भी बनी रही।

दूसरा मुद्दा किसानों की स्थिति का है। ज़मींदारी व्यवस्था में हमने देखा कि शासन को भूमि-कर चुकाने की ज़िम्मेदारी ज़मींदार की थी। यहां किसानों से लगान की वसूली ज़मींदार के लोग करते थे। लेकिन किसान ज़मींदार को कितना लगान देंगे यह शासन ने तय नहीं किया था – ज़मींदार अपनी सुविधानुसार या किसानों के चुकाने की क्षमता के अनुसार यह तय कर लेते थे। एक अध्ययन से यह पता चलता है कि अन्य व्यवस्थाओं के अंतर्गत आने वाले किसानों के मुकाबले ज़मींदारी व्यवस्था के अंतर्गत आने वाले किसानों से सरकार को लगान कम मिलता था लेकिन ज़मींदारी व्यवस्था में इन किसानों से ज़मींदार वर्ग अन्य कई तरह के कर वसूला करते थे जिनसे उनकी स्थिति काफी बदतर थी।

इसी से संबंधित एक दूसरी बात। ज़मींदारी व्यवस्था के किसानों को कृषि कार्य के लिए ज़्यादातर अपने ज़मींदारों से एडवान्स मिल जाता था। इस राशि पर उन्हें सूद देना पड़ता था लेकिन यह सूद बहुत ज़्यादा नहीं होता था। इसके अतिरिक्त ज़मींदार किसानों को गाहे-बगाहे उनकी ज़रूरत के अनुसार थोड़ी बहुत मदद भी करते थे। हालांकि इसके बदले वे उनसे बेगार आदि करवाते रहते थे। इन सब का अर्थ यह था कि इस क्षेत्र के किसानों को अपनी हर ज़रूरत पर बनियों या महाजनों के पास कर्ज़ के लिए नहीं जाना पड़ता था। जबकि उनके ज़मींदारों को अपने लिए तय राशि का नियत समय पर भुगतान करने के लिए अक्सर ही कर्ज़ लेना पड़ता था। ऊपर हमने देखा है कि 1793 में स्थाई बंदोबस्त की शुरुआत के 20 वर्षों के अन्दर ही करीब 40 प्रतिशत ज़मींदारी एक हाथ से दूसरे हाथ में चली गई थी।

इसके विपरीत रैयतवारी इलाके में किसानों को, जहां वे स्वयं ज़मीन के मालिक थे और जिन्हें स्थाई बंदोबस्त के ज़मींदारों की ही तरह समय पर लगान जमा करवाना पड़ता था – अक्सर ही महाजनों व बनियों के चक्कर लगाने पड़ते थे। उन्हें अपनी हर ज़रूरत के मौके पर (जैसे, कृषि कार्य के लिए, घर-परिवार में होने

यह तो हुई अंग्रेज़ों के शासन के दौरान भूमि व्यवस्थाओं की चर्चा। इस लेख को पढ़ने के बाद क्या आपकी इच्छा नहीं हो रही हैं कि यह पता लगाएं कि आपके इलाके में आज भूमिकर की क्या व्यवस्था है और ये कब से चली आ रही है? यदि आपके पास अपने इलाके की वर्तमान या पुरानी भूमिकर व्यवस्था के संबंध में कोई भी जानकारी हो तो हमें ज़रूर लिख भेजिए। आपकी सूचनाओं का स्वागत है।

वाले आयोजनों के लिए, लगान चुकाने के लिए, आदि) महाजनों या बनियों के पास जाना पड़ता था। महाजन उनकी ज़रूरतों को देखते हुए उनसे मनमाने दर पर सूद लेते थे। इसके अतिरिक्त ये महाजन स्थानीय व्यापारी भी होते थे और किसानों को अपनी उपज भी इन्हीं को बेचनी पड़ती थी। इसमें भी ये किसानों की मजबूरी का फायदा उठाते थे।

इस तरह रैयतवारी इलाकों में बनियों व महाजनों का आतंक काफी बढ़ गया था। शायद ही ऐसा कोई किसान बचा होगा जो उनके चंगुल में नहीं फंसा हो। इसका परिणाम यह हुआ कि कई जगहों पर किसानों ने इनके खिलाफ विद्रोह कर दिए। इन विद्रोहों में सबसे प्रमुख 1875-76 में पूना के इलाके में फैला विद्रोह है। इस विद्रोह के दौरान किसानों का मुख्य उद्‌देश्य बनियों व महाजनों का 'बही-खाता' (जिसमें वे दिए गए कर्ज़ आदि का हिसाब लिखते थे) नष्ट करना होता था। महाजनों व बनियों को शारीरिक रूप से कोई क्षति नहीं पहुंचाई जाती थी।

गौतम पांडेय: एकलव्य के सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम एवं संदर्भ पत्रिका से जुड़े हैं।

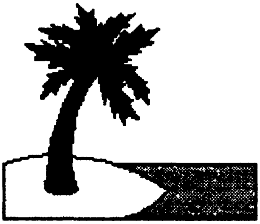

पीऽऽ टऽऽ रऽऽ

इयान मेक इवान

यह दरअसल पीटर की ख्याली उड़ानों के कई किस्से बयान करने वाली एक किताब की भूमिका है। इस भूमिका में उन सब कहानियों के प्रमुख पात्र पीटर का परिचय देने के बहाने लेखक ने 'बाल हृदय की गहराइयों' को टटोलने की कोशिश की है।

10 साल के पीटर के लिए यह एक अबूझ पहेली थी कि ये बड़े (हो चुके) लोग उसे 'नकचढ़ा' क्यों समझते हैं। वह तो बिल्कुल अड़ियल या ज़िद्दी नहीं। उसने कभी कांच की बोतलों को दीवारों पर नहीं दे मारा, न ही कभी टमाटर के सॉस को माथे पर पोत चोट का नाटक ही किया, कभी अपनी दादी की बांह-टांग पर चाकू की धार नहीं आज़माई। हां, कभी-कभार ऐसा करने का ख्याल ज़रूर कुलबुलाया करता।

आलू, मछली, अंडे और पनीर के सिवा कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसे देख वो नाक भौं सिकोड़ता है। और जितनों को भी वह जानता है वह उनसे ज़्यादा शोर नहीं मचाता; ज़्यादा गंदा नहीं रहता, उनसे ज़्यादा बेवकूफ नहीं है। उसका नाम बोलने में जीभ-तालू को वर्जिश नहीं करनी पड़ती। उसके पीले और अस्त-व्यस्त चेहरे को याद रखना आसान है। वह दूसरे बच्चों की तरह हर रोज़ बिना किसी बहानेबाज़ी या ज़िद के स्कूल जाता है। अपनी बहन से वह उतनी ही बदमाशी करता है जितनी वह उसके साथ करती। न ही कभी ऐसा हुआ कि किसी पुलिस वाले को उसका दरवाज़ा खटखटाना पड़ा, न ही किसी सफेद कोटधारी डॉक्टर ने उसे पागलखाने ले जाने की धमकी ही दी।

कुल मिलाकर यह कि नाम से लेकर काम-धाम तक सबमें पीटर काफी सुलझा हुआ अच्छा बच्चा है। फिर विचित्र, नकचढ़ा ये विशेषण क्योंकर उसके साथ जड़े जाते हैं?

वो तो बहुत बाद में, बड़ा होने पर पीटर को समझ आया कि माज़रा क्या है? उसे विचित्र दरअसल उसका चुप रहना बनाता था। यह बात लोगों को बहुत अखरती। दूसरा यह कि उसे अपने आप में खोए रहना अच्छा लगता। हमेशा नहीं...हर रोज़ भी नहीं। बस कभी-कभार एक-आध घंटे के लिए कहीं चले जाना उसे भाता। वह उसका कमरा, कोई पार्क, कुछ भी हो सकता था। उसे अकेले रहना और सोचते रहना बहुत सुहाता।

सब गड़बड़ की जड़ यही थी। बड़ों को इस सोच में बड़ी शांति मिलती कि उन्हें खबर है कि एक 10 साल के बच्चे के अन्दर क्या चल रहा है। लेकिन, अगर बच्चे बोलें नहीं तो पता कैसे चले कि वे क्या सोच रहे हैं? लोग बस इतना ही देख पाते कि पीटर गर्मी की दोपहर में पीठ के बल लेटा, घास का तिनका चबाता आसमान निहार रहा है। आप आगे बढ़कर कई बार नाम पुकारते और पूछते कि वह क्या सोच रहा है तो वह अचकचाकर बैठ जाता . . . "नहीं...नहीं... कुछ भी नहीं"। बड़े इतना तो समझ जाते कि इसके दिमाग में कुछ चल रहा है पर वे उसे न देख पाते, न सुन पाते, न महसूस कर पाते। वे पीटर को यह भी

नहीं कह सकते कि "भैया ऐसा मत करो।" क्योंकि वे जानते ही नहीं थे कि वह कर क्या रहा है। हो सकता है कि वह अपने स्कूल में आग लगा रहा हो या अपनी बहन को मगरमच्छ के हवाले कर रहा हो या गर्म गुब्बारे में बैठ दुनिया की सैर पर निकल गया हो; उन्हें तो बस यही दिखाई देता कि एक बच्चा एकटक आसमान निहारे जा रहा है, जिसका नाम पुकारो तो भी उसे सुनाई नहीं देता।

बड़ों को उसके अपने में डूबा रहने से दिक्कत होती। वैसे उन्हें बड़ों से भी ऐसा व्यवहार गंवारा न होता। आम तौर पर लोग उस सबमें शामिल होना चाहते हैं जो दूसरे सोच रहे हैं या कर रहे हैं। इस तरह वे एक-दूसरे को समझने की कोशिश करते हैं। अगर आप इस प्रक्रिया में शामिल नहीं होते तो दूसरों का मज़ा किरकिरा करते हैं। पीटर सोचता कि यह जुड़ना-जुड़ाना तो सब ठीक लेकिन लोग ऐसा करते ही चले जाते हैं। भई, इस सबमें आप जितना समय खर्च करते हैं उससे कम में ही अगर आदमी यह सोचे कि 'वह क्या है? या वह क्या हो सकता है?' तो रहने के हिसाब से दुनिया ज़्यादा अच्छी जगह बन सकती है और लड़ाई-झगड़े कुछ कम हो सकते हैं।

स्कूल में अक्सर वह अपने शरीर को एक जगह पर बैठा छोड़ खुद उड़ जाता। घर में भी हाल इससे कुछ अलग न था। एक दफा पिताजी क्रिसमस की झालरें टांग रहे थे। पीटर एक कोने में कुर्सी पर यूं ही बैठा था। पिता बोले, "पीटर मैं तुम्हारी कुर्सी पर चढ़ रहा हूं, उठना मत।" पीटर तुरन्त बोला, "आप बेफिक्र होकर चढ़ जाएं।" उधर पिता कुर्सी पर चढ़े और इधर पीटर ख्याली घोड़ों पर। यूं देखने में तो वह कुछ नहीं कर रहा था लेकिन दरअसल था बहुत व्यस्त। वह कपड़े टांगने वाले हैंगर और चीड़ के दो पेड़ों से बंधी तार के सहारे पहाड़ से उतरने का कोई मज़ेदार तरीका सोच रहा था। ऐसा कैसे हो सकता है कि आप फिसलते रहें और बीच के पेड़ों से टकराएं भी नहीं।

वह पहाड़ी हवा का असर था या पीटर को अचानक लगी भूख का कि वो उठा और रसोई की ओर चल दिया। धड़ाम की आवाज़ और चीख ने ध्यान खींचा तो उसे पिता की याद आई। कुर्सी के पीछे से निकल रहा उनका सिर पीटर को कच्चा चबा जाने के अंदाज़ से घूर रहा था। कमरे के दूसरे कोने में मां मुंह पर हाथ रख हंसी के फव्वारे दबाने की कोशिश में लगी थी।

"माफ करना पिताजी, मैं आपको भूल गया था", पीटर शर्मिंदा था।

* * *

पीटर 10 साल का हुआ ही था कि उसकी झोली में एक ज़िम्मेदारी

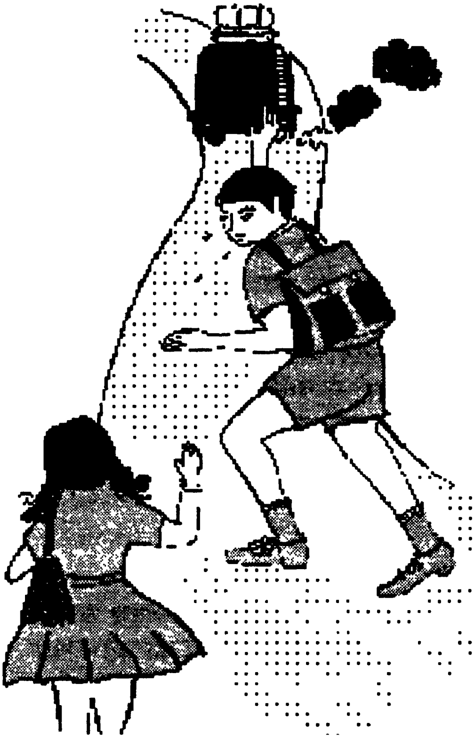

आ गई – सात साल की अपनी बहन केट को स्कूल ले जाना-आना। केट और पीटर एक ही स्कूल में जाते थे। स्कूल इतनी ही दूर था कि या तो 15 मिनट चल लो या फिर थोड़ी देर बस में बैठ लो।

वैसे तो स्कूल घर से केवल दो स्टॉप की दूरी पर था लेकिन उसके मां-बाप की इस विषय पर हो रही बातचीत से आभास होता ज्यों केट को उत्तरी ध्रुव ले जाना है। एक रात पहले ही निर्देशों-आदेशों का सिलसिला शुरू हो जाता। सुबह फिर वही समझाइशें। नाश्ते के दौरान तमाम बातें फिर से दोहराई जातीं। जैसे ही दोनों दरवाज़े की तरफ बढ़ते मां जल्दी-जल्दी सारी हिदायतें, नियम गिना देतीं। पीटर को लगता सब मुझे बुद्धू समझते हैं। शायद मैं हूं भी। उसे पूरे वक्त केट का हाथ थामे रहने का आदेश बार-बार दिया जाता।

उन्हें बस में बीच वाली सीटों पर बैठना था; खिड़की के पास बहन बैठेगी; बुरे या आवारा किस्म के लोगों से बातें नहीं करना; पीटर बस-कंडक्टर को ज़ोर से उस बस स्टॉप का नाम बताएगा जहां उतरना है; हां, 'कृपया' बोलना बिल्कुल नहीं भूलना है; और निगाह बराबर रास्ते पर हो।

पीटर ने मां के सामने सब दोहराया और बहन का हाथ पकड़कर चल दिया। दरअसल उसे यह भाता क्योंकि उसे केट बहुत अच्छी लगती थी। वह बस यही मन्नत मांगता रहता कि स्कूल का कोई साथी न देख ले कि वह एक लड़की का हाथ थामे जा रहा है। बस आई और वे उसमें बैठ गए। बस में

हाथ थामे बैठना वैसे ही अजीब-सा था और ऊपर से आसपास स्कूल के बच्चों का जमघट। उन्होंने हाथ छोड़ दिए। पीटर को अपने आप पर काफी गर्व हो रहा था कि वह अपनी बहन का ख्याल रख सकता है .... हर जगह। और केट भी उस पर विश्वास कर सकती है। अगर कभी वे किसी पहाड़ी रास्ते पर अकेले हों और सामने से भेड़ियों का झुण्ड आ जाए तो उसे मालूम है क्या किया जाना है। यह ध्यान रखते हुए कि उसे जल्दबाज़ी में कोई कदम नहीं उठाना है, वह केट का हाथ पकड़े धीरे-धीरे पीछे होता जाएगा, जब तक कि उन दोनों की पीठ एक बड़ी चट्टान से न लग जाए। अब भेड़िए उन्हें घेर नहीं सकते।

इसके बाद वह अपनी जेब से दो ज़रूरी चीज़ें निकालेगा। उसने याद से इन्हें जेब में रखा था – शिकारी चाकू और माचिस की डिबिया। वह चाकू को म्यान से निकालकर घास पर रख देता है ताकि भेड़ियों के आने पर बिना वक्त गंवाए उन पर हमला कर सके। भेड़िए करीब आते जा रहे हैं। वे इतने भूखे हैं कि उनके मुंह से लार टपक रही है। वे गुर्रा रहे हैं। केट सहमी, आतंकित-सी रो रही है। लेकिन उसे चुप नहीं कराया जा सकता। उसे अपनी योजना से डिगना नहीं है। ठीक उसके पैरों के पास सूखी पत्तियां और टहनियां बिखरी पड़ी हैं। पीटर जल्दी-जल्दी उन्हें इकट्ठा करता है। भेड़िये बढ़ते ही आ रहे हैं। उससे कोई गलती न होने पाए। डिबिया में सिर्फ एक तीली बची है।

भेड़िये अब काफी करीब आ गए हैं। उनके नथूनों से सड़े मांस की गंध आ रही है। वह धीरे से झुककर हाथों का गोला बनाकर माचिस जलाता है। हवा के झोंके से लौ कांप जाती है। लेकिन पीटर उसे ढेर के पास रखे रहता है। पहले एक पत्ती, फिर दूसरी, तीसरी पत्ती और पूरी टहनी जल उठती है। इसी के साथ पत्तियों का ढेर धूं-धूं कर जल उठता है। वह इस ढेर में और ज़्यादा सूखी पत्तियां, टहनियां और लकड़ियां डालता जा रहा है। केट भी अब उसके आइडिया को भांप कर पत्तियां इकट्ठा करने में उसकी मदद कर रही है। भेड़िये पीछे हट रहे हैं। जंगली जानवर आग से डरते हैं और हवाएं धुएं को उनके लार टपकाते नथूनों में घुसाए जा रही है। अब पीटर अपना शिकारी चाकू उठा लेता है और .....।

उफ ..... अगर वो थोड़ा सजग न होता तो इन सपनों के चलते ठीक समय पर उतर न पाता। बस रुक चुकी थी। स्कूल के बच्चे बस से उतर रहे थे। वह झटके से उठा और किसी तरह बस से कूद पड़ा। तब तक बस सरकना शुरू हो गई थी। अभी कोई 20-30 कदम आगे बढ़ा कि उसे

लगा कि वह कुछ भूल गया है। थैला तो नहीं? नहीं...नहीं... ओह अपनी बहन.... उसे भेड़ियों के मुंह से तो बचा लिया लेकिन वहीं बस में ही छोड़ आया।

एक क्षण के लिए वह जड़ हो गया और दूर होती जा रही बस के पिछवाड़े को देखता रहा। फिर बुद-बुदाया 'वापस आ जाओ'। उसके स्कूल के एक दोस्त ने उसे पीछे से थपकी दी – "क्या हुआ, कुछ भूल गए?" "नहीं, कुछ नहीं, मैं बस में कुछ भूल आया हूं।" 'वापस आ जाओ' और वह लगा बस के पीछे भागने। तब तक बस काफी आगे बढ़ गई थी और अगले स्टॉप के लिए धीमी हो गई थी। पीटर भागता गया। वह इतनी तेज़ी से भाग रहा था कि अगर अपनी बाहें फैला लेता तो यकीनन उड़ ही जाता। फिर पेड़ों के ऊपर से होता हुआ वह. . . नहीं . . . नहीं। उसे फिर सपनों में नहीं खोना है। उसे अपनी बहन को पाना है। वह अब भी कहीं चीख-चिल्ला रही होगी।

कुछ यात्रियों को उतार बस ने फिर से सरकना शुरू कर दिया था। वह काफी करीब पहुंच चुका था। बस एक लॉरी के पीछे रेंग रही थी। अगर वह अपनी टांगों और छाती के दर्द को भुलाकर पूरे दमखम से भागे तो बस तक पहुंच सकता है। जब पीटर बस स्टॉप तक पहुंचा तो बस केवल आधा-एक फर्लांग आगे थी। तेज़ और, तेज़.... वह खुद से बोला।

बस स्टॉप से गुज़रते वक्त उसके कानों में एक बच्चे की आवाज़ टकराई, पीटर....पीटर। पीटर में सिर घुमाने की भी हिम्मत शेष न थी। वो हांफते हुए बोला, ".... नहीं, मैं नहीं रुक सकता।"

"पीटर रुको ... रुको, मैं केऽऽऽऽऽट"

सीने को हाथों में थामते हुए पीटर केट के पैरों के पास घास पर गिर पड़ा।

"ध्यान से पीटर, कोई कुत्ता सुबह-सुबह यहां कुछ कर गया है", केट बिना किसी उत्तेजना के बोली।

"चलो, जल्दी चलो नहीं तो देर हो जाएगी। और अगर तुम किसी मुश्किल में नहीं पड़ना चाहते तो कृपया मेरा हाथ थामे रहो।" फिर वे दोनों हाथ में हाथ डाले स्कूल की ओर चल दिए।

उनके बीच समझौता हो गया था। घर पर इस घटना के बारे में कुछ नहीं बताने की कीमत के बतौर केट को पीटर का इस हफ्ते का जेबखर्च मिलने वाला था।

***

दरअसल दिन में सपने देखने वाले ऐसे लोग जो कम बोलते हैं, उन्हें शिक्षक मूर्ख समझने लगते हैं। खास तौर पर वे शिक्षक जो आपको ज़्यादा नहीं जानते। अगर मूर्ख नहीं तो ढीला-ढाला का तमगा तो आप पर चस्पा

हो ही जाता है। जो आपके दिमाग में चल रहा है उस आश्चर्यलोक में कोई नहीं झांक सकता। खिड़की से बाहर झांकते हुए या कोरे कागज़ को एकटक निहारते पीटर को देख शिक्षक यही सोचता है कि या तो यह ऊब चुका है या फिर उत्तर की खोज में कहीं भटक गया है। लेकिन असली किस्सा तो कुछ और ही होता है।

उस सुबह भी कुछ ऐसा ही हुआ जब पीटर का गणित का पर्चा था। उन्हें बहुत बड़ी-बड़ी संख्याओं का जोड़ करना था और समय था मात्र बीस मिनट। जैसे ही पीटर ने पैंतीस लाख दो सौ पिच्चानवें को इतनी ही बड़ी दूसरी संख्या से जोड़ना शुरू किया तो खुद को विश्व की सबसे बड़ी संख्या को खोजते पाया। पिछले हफ्ते ही उसने एक अनोखे नाम वाली संख्या के बारे में पढ़ा था – गूगल। गूगल यानी 10^{100} यानी 10 के बाद 100 शून्य। इससे भी विशाल एक संख्या है गूगलप्लेक्स, यानी 10 को 10 से एक गूगल बार गुणा करने पर मिलने वाली संख्या। क्या संख्या है, वाह!

पीटर ने अपने दिमाग को ढील दे दी। फिर क्या था शून्यों की लड़ी बुलबुलों की तरह आसमां की ओर चल निकली। पिताजी कहते हैं कि अंतरिक्ष यात्रियों ने गणना की है कि उनके विशाल टेलिस्कोप से दिखने वाले लाखों तारों के तमाम अणुओं को जोड़ें तो भी संख्या होगी 10^{98}। यानी 1 गूगल से भी कम। और 1 गूगल तो 1 गूगलप्लेक्स के सामने धूल का एक महीन कण भर है। अगर आप किसी से चॉकलेट वाली 1 गूगल टॉफी मांगें तो उनको बनाने के लिए इस पूरे ब्रह्माण्ड के समस्त परमाणु भी काफी नहीं होंगे। अपने हाथों पर

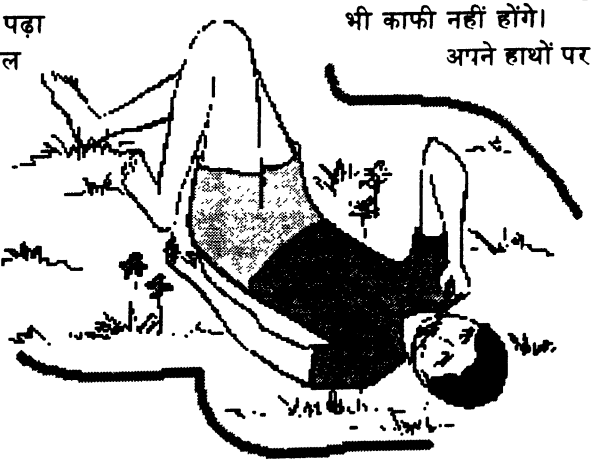

सिर टिकाए पीटर ने लम्बी आह भरी .... कि मैडम ने ताली बजा दी। 20 मिनट खत्म। अब तक पीटर पहले सवाल की पहली संख्या का पहला अंक ही लिख पाया था। जबकि पूरी क्लास को सवालों पर फतेह पाए काफी देर हो चुकी थी। कागज़ को घूरते, कुछ नहीं लिखते और आहें भरते पीटर पर मैडम की शुरू से ही निगाह थी।

जल्द ही पीटर को उन बच्चों के बीच बिठा दिया गया जिन्हें 4, 6 जैसी छोटी संख्याओं को जोड़ने में भी भारी दिक्कत होती थी। पीटर की बोरियत और बढ़ गई। ध्यान देना और ज़्यादा मुश्किल हो गया। शिक्षक को लगने लगा कि उसका गणित इतना कमज़ोर है कि इस विशेष कक्षा के लिए भी वह फिट नहीं है। अब क्या किया जाए?

हालांकि पीटर के माता-पिता और उसकी बहन जानते थे कि पीटर न तो बेवकूफ है, न आलसी और न ही ऊबा हुआ। कुछ शिक्षक भी ऐसे थे जिन्हें यह अहसास हो गया था कि उसके दिमाग में तमाम तरह की मज़ेदार चीज़ें घट रही होती थीं। स्वयं पीटर ने बड़े होने के दौरान यह महसूस किया कि चूंकि लोग आपके दिमाग में चल रही फिल्म को देख नहीं पाते हैं इसलिए अगर आप चाहते हैं कि वे आपको जानें तो बेहतर होगा आप उन्हें सब कुछ बताते जाएं। यह जान जाने के बाद पीटर ने उन सब चीज़ों के बारे में कुछ-कुछ लिखना शुरू किया जो खिड़की से बाहर ताकते समय या घास पर लेटे आसमान निहारते समय घट जाती थीं। बड़े होने पर वह एक आविष्कारक और एक कहानीकार बना और मज़े से रहा। इस किताब में पीटर के दिमाग में उपजे ऐसे ही कुछ रोमांचक किस्सों को जस-का-तस लिखने की कोशिश की गई है।

मूल लेखक: इयान मेक इवान: अंग्रेज़ी साहित्य में अपनी कहानियों के लिए जाने जाते हैं। कुछ उपन्यास भी लिखे हैं।

अनुवाद: शशि सबलोक: एकलव्य द्वारा प्रकाशित 'स्रोत फीचर सेवा' से संबद्ध। अनुवाद में रुचि।

***सभी चित्र: स्मृति सिन्हा:* कॉलेज में पढ़ाती हैं। शौकिया चित्रकार हैं।**

यह कहानी 'डे ड्रीमर' किताब से साभार। प्रकाशक: विन्टेज पब्लिशर्स, लंदन।

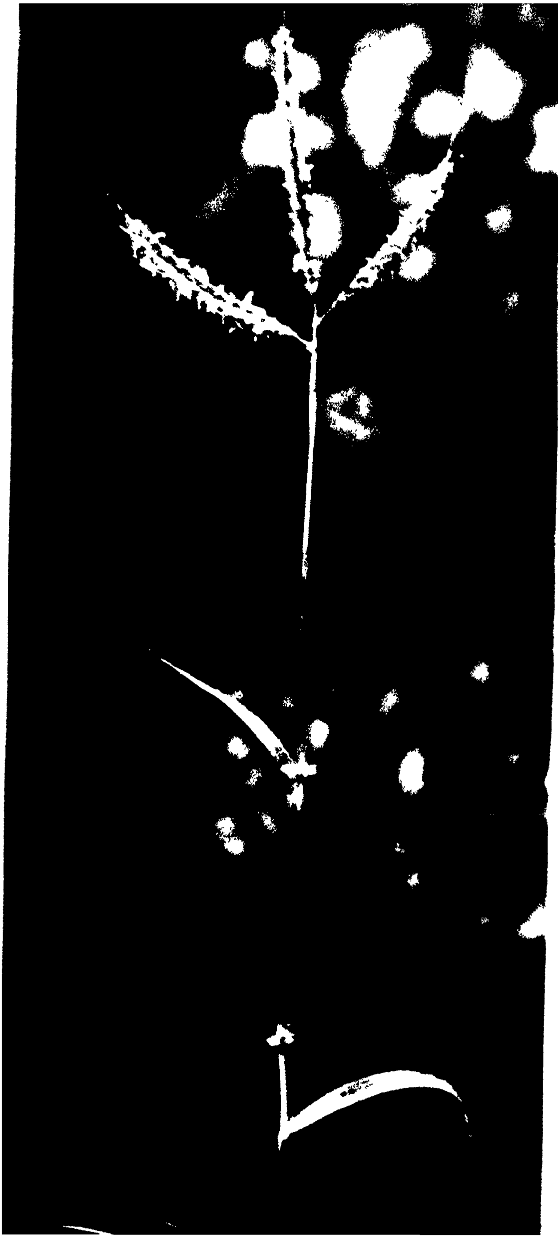

पराग का अंकुरण और परागनली देखने के लिए यह घास सबसे उपयुक्त है। रोएं के छल्लों को देखकर इसे आसानी से पहचाना जा सकता है। लेख पृष्ठ 60 पर।

12757